जैन कर्म सिद्धान्त, अध्यात्म और विज्ञान

– एक विश्लेषण

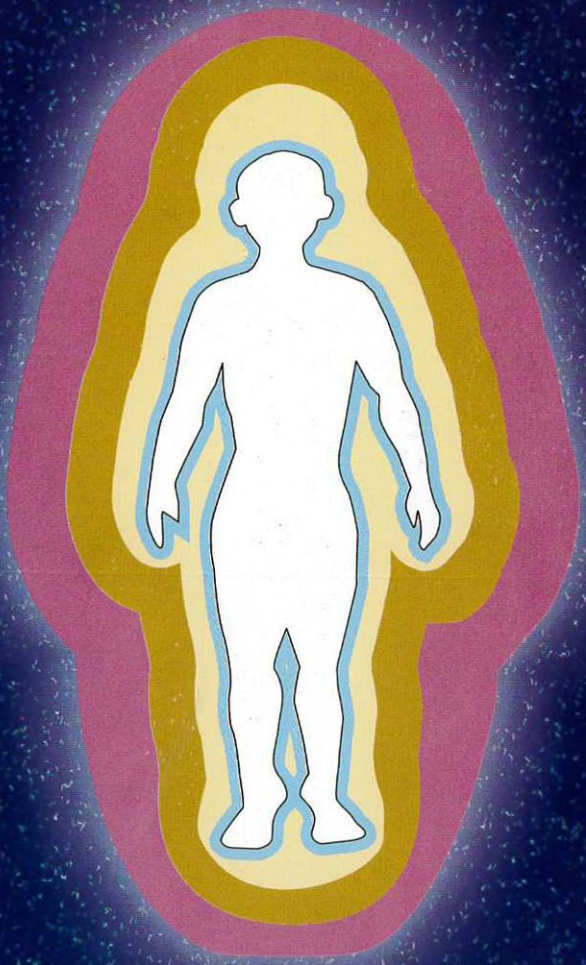

डा० नारायण लाल कछारा

जैन कर्म सिद्धान्त, अध्यात्म और विज्ञान

– एक विश्लेषण

डा0 नारायण लाल कछारा

प्रकाशक:
धर्म दर्शन सेवा संस्थान
55, रवीन्द्र नगर, उदयपुर 313003

जैन कर्म सिद्धान्त, अध्यात्म और विज्ञान

– एक विश्लेषण

डा० नारायण लाल कछारा

■ प्रथम संस्करण
1000 प्रतियाँ, दिसम्बर 2004

■ प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
धर्म दर्शन सेवा संस्थान
55, रवीन्द्र नगर, उदयपुर

■ अर्थ सौजन्य
श्रीमती सुशीला कछारा
श्री संजीव कछारा

■ मूल्यः रू 50/–

■ कम्पोजिंगः विनायक ग्राफिक्स, उदयपुर
मुद्रकः पुनीत आफसेट, उदयपुर

आशीर्वचन

जैन दर्शन मूलतः आप्त-पुरुष द्वारा निरूपित सत्य की वह अभिव्यक्ति है जो चेतना के सूक्ष्म स्वरूप को उजागर करती हैं। कर्म-सिद्धांत का समग्र प्रतिपादन उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रियाओं की व्याख्या है जहां चैतन्य का परिणमन तथा सूक्ष्म कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों का परिणमन घटित होता हैं। जिस सूक्ष्मस्तर पर यह सारा घटित होता हैं, वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। जैन दर्शन में उपलब्ध यह व्याख्या इसलिए महत्वपूर्ण है कि जहां एक ओर इससे हमें भावतंत्र और मानसतंत्र के रहस्यों को बौद्धिक-तार्किक स्तर पर हृद्यंगम करने का अवसर मिलता हैं, वहां दूसरी ओर वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत प्रायोगिक तथ्यों की तुलनात्मक मीमांसा करने की सुविधा भी प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से अध्यात्म और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में कर्म-सिद्धांत का अनुशीलन अहम भूमिका निभा सकता हैं।

अध्यवसाय, परिणाम लेश्या, भाव आदि जैन दार्शनिक प्रत्ययों के रहस्यों को भी हम आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त ग्रंथि - तंत्र, तंत्रिका-तंत्र, जैव-रासायनिक स्त्राव, न्यूरो-ट्रांसमीटर, जीन आदि की प्रक्रियाओं के संदर्भ में सुगमता से समझ सकते हैं, इस दृष्टि से भी यह तुलनात्मक अध्ययन बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता हैं।

वर्तमान युग में बढ़ रहे भौतिकवादी प्रभावों और तज्जनित हिंसा, भोगवाद, संघर्ष आदि समस्याओं का भी निराकरण करने में सुगमता हो सकती हैं यदि कर्म-सिद्धांत की सुगम प्रस्तुति वैज्ञानिक संदर्भो में हो। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास हैं, ऐसा कहा जा सकता हैं।

सिरियारी

6 नवम्बर, 2004

आचार्य महाप्रज्ञ

शुभार्शीवाद एवं आह्वान

कर्म सिद्धान्त और उसमें से पुनः विशेषतः जैन कर्म-सिद्धान्त का परिज्ञान करना मानो ब्रह्माण्ड के समस्त सूक्ष्म से लेकर स्थूल जीव यथा एक कोशीय जीव, वायरस, बेक्टरीया, वनस्पति, कीट-पतंग, जलचर, स्थलचर, उभयचर, नभचर, सरिसृप, वनमनुष्य, मनुष्य के साथ-साथ अप्रत्यक्षभूत स्वर्ग के देव, नरक के नारकी और इन सब जीवों के प्रतिपक्षी स्वरूप समस्त कर्म के विमुक्त "सच्चिदानन्द स्वरूप" परमात्मा / भगवान का भी परिज्ञान करना हैं। इतना ही नहीं कर्म सद्धान्त के परिज्ञान से ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों की गति, जाति, उत्पत्ति, स्थिति, मृत्यु, मृत्यु-उपरान्त - गति, स्थिति, सुख-दुःख, बुद्धि, भावना, उपलब्धि, प्रवृत्ति आदि का भी परिज्ञान हो जाता हैं । कर्म, सिद्धान्त के परिज्ञान से विश्व कर्त्तावाद, भौतिक-रसायन प्रक्रिया से असत्तास्वरूप जीव की उत्पत्ति के नियम, एकान्त कालवाद, नियति वाद, कर्म फल प्रदाता / सुख दुःखदाता रूप में अन्य की मान्यता आदि का निरसन होने के साथ-साथ उसका वैज्ञानिक कार्य-कारण सिद्धान्त गणीतीय पद्धति से संशय विपरीत आदि दोषों से रहित यथार्थ परक सत्य - तथ्यात्मक रूप से हो जाता हैं। मैंने जो देश विदेश के दर्शन शास्त्रों का एक निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन किया उसके आधार पर मैंने कुछ विशेषतायें जैन कर्म सिद्धान्त में पाई हैं, वह निम्नोक्त हैं-

(1) जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार मुख्यतः कर्म दो प्रकार के हैं (i) भावकर्म (ii) द्रव्य कर्म । भाव में जो (1) मिथ्यात्व (सत्य के विपरीत भाव) (2) कषाय (क्रोध, मान, माया लोभ) (3) अविरति (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह का त्याग नहीं करना), (4) प्रमाद (4 कषाय, पाँचों इन्द्रिय के विषय में आसक्त होना, 4 विकथा (राज- कथा, स्त्रीकथा, भोजन कथा, चौर कथा)) निद्रा और प्रणय / आसक्ति रूप परिणाम हैं, वह भाव कर्म हैं। इस भाव से जो आत्मा के असंख्यात प्रदेश में योग / कम्पन / होता हैं उससे अनन्तानन्त कर्मपरमाणु आकर्षित होकर आत्म प्रदेश में प्रवेश करते हैं, उसे आस्त्रव कहते हैं। यह योग मुख्यतः (1) मन योग (2) वचन योग (3) काय योग हैं। जो अनन्तानन्त कर्म परमाणु आकर्षित होकर आते है वे सब आत्मा के असंख्यात प्रदेश में जैविक - रासायनिक प्रक्रिया से बन्धते हैं। इन सब कर्म परमाणुओं को द्रव्य कर्म कहते हैं। क्योंकि यह सब परमाणु (Atom) हैं, भौतिक तत्व के अविभाज्य अंश (परमाणु) हैं।

(2) योग के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य परिणामानुसार कर्म परमाणुओं की संख्या (प्रमाण) भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य होती हैं। तथापि परमाणुओं की संख्या अनन्तानन्त होती हैं जो कि उत्कृष्ट, मध्यम / जघन्यरूप में होती हैं। भावकर्म (उपयोग / परिणाम) के कारण द्रव्यकर्म में / कर्म परमाणुओं में विभिन्न प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती हैं। इतना ही नहीं वे कर्म

परमाणु कितने समय तक (कुछ क्षणों से लेकर 70 कोटा-कोटी सागर प्रमाण वर्ष) आत्म प्रदेश में बन्धे रहते हैं एवं यथा योग्य समय में उदय (सक्रिय होकर) में आकर विभिन्न प्रकार के सुख-दुःख, जन्म-मरण, भाव, रोग आदि कार्य को करते हैं।

(3) शुभ/ प्रशस्त / कोमल / नम्र आदि परिणाम से कर्म परमाणु पुण्य कर्म रूप से परिणमन करते हैं तो अशुभ / दूषित / कठोर / अनम्र परिणाम से कर्म परमाणु पापकर्म रूप से परिणमन करते हैं। भले वे परमाणु मूलतः एक प्रकार के ही होते हैं। पूर्वोक्त मिथ्यात्व कषायादि भाव कर्म से रहित शुद्ध/ निर्मल / पवित्र भावना से किसी भी प्रकार के पुण्य - पाप रूप कर्म नहीं बन्धते हैं हैं, परन्तु पूर्वबद्ध कर्म निर्जिण, क्षय हो जाते हैं। सम्पूर्ण कर्म के क्षय से जीव जिनेन्द्र, आत्मा परमात्मा, संसारी मुक्त हो जाता हैं।

(4) कष्ट, संकट, दुःख, रोग आदि के समय में समता, धैर्य, शुभ / प्रशस्त / कोमल / विनम्रभाव रखने से पूर्व- उपार्जित पाप कर्म की शक्ति कम हो जाती हैं या नष्ट हो जाती हैं, जिसके कारण वे कष्ट आदि कम प्रभाव डालते या प्रभाव नहीं डालते हैं। इसी प्रकार यदि पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म (पापानुबन्धी पुण्य) के कारण कुछ सत्ता, सम्पत्ति, सांसारिक सुखादि प्राप्त करके जीव अहंकारी, क्रुर, दुष्ट, हिंसक अन्यायी, भ्रष्ट आदि बन जाता है तब पुर्वोपार्जित पुण्य की शक्ति क्षीण हो जाती हैं या नष्ट हो जाती हैं या पाप रूप में परिणमन हो जाती हैं। साथ ही साथ नवीन पाप कर्म बन्धता हैं, जिससे जीव पुनः दुःखी विपन्न बन जाता हैं।

(5) जीव जो कुविचार, कदाचार करता हैं भले उसे कोई देखे, या न देखें कोई दण्ड दें या न दे परन्तु जो कर्म परमाणु पापरूप में बन्धते हैं वे अवश्य ही यथा-योग्य समय प्राप्त करके कष्टप्रद फल देंगें। तथैव च जो अच्छे विचार- व्यवहार करते हैं उसे कोई देखें, जाने, माने, सराहना करें पुरस्कृत करें, या न करें, परन्तु जो कर्म परमाणु पुण्यरूप में बन्धते हैं वे यथायोग्य समय प्राप्त करके सुख-प्रद फल देंगें ही। इसी प्रकार जो पवित्र / विशुद्ध भाव रखते हैं वे स्वयं परमात्मा बन जाते हैं भले उन्हें कोइ पूजे या न पूजे वे तो समस्त राग, द्वेष, संक्लेश कष्ट से रहित होकर "सत्यं शिवं सुन्दरम्" "सच्चिदानन्दम्" "विज्ञानधन स्वरूपम्" बन जाता हैं।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता हैं कि जैन कर्म सिद्धान्त अत्यन्त वैज्ञानिक गणीतीक, मनो-वैज्ञानिक हैं। जैन कर्म सिद्धान्त जीवों को स्वावलम्बी, आत्म संयमी, आत्म निर्णायक के साथ-साथ जीव को स्वयं के सुख दुःख, मोक्ष के कर्ता- धर्ता - हर्ता बनाता हैं।

(6) जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार जीव अनादि से हैं और कर्म भी अनादि से हैं। अनादि से प्रत्येक जीव कर्म से युक्त ही होते हैं। अत्यन्त कर्मभार से युक्त जीव नित्य निगोदिया (जीवाणु, रोगाणु से भी सूक्ष्म एवं निम्न स्तरीय जीव) होता हैं। कर्म भार के क्रम हानि से जीव का क्रम विकास होता जीव निगोदिया से पशु-पक्षी मनुष्य बनता हैं। यदि जीव विशुद्ध

भाव से कर्म को नष्ट नहीं करता है, परन्तु पाप करता हैं तो पुनः निगोद में जन्म लेना पड़ता हैं। इसी प्रकार जीव जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता हैं, तब तक कर्मानुसार विभिन्न योनियों में, गतियों में जन्म लेना पड़ता है। परन्तु जो मोक्ष प्राप्त कर लेता है उसे पुनः कर्म बन्ध नहीं होता हैं। क्योंकि उसके भाव कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इस अपेक्षा से कर्म अनादि से होते हुए भी मोक्ष प्राप्त करने वालों की अपेक्षा से शान्त हैं परन्तु जो कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते हैं उनकी अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं। तथा अनेक जीवों की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं। सुखद आश्चर्य का विषय यह है कि जो आधुनिक जीव वैज्ञानिक शरीर वैज्ञानिक, मनौवैज्ञानिक, चिकित्सा वैज्ञानिक आदि भी जो अभी शोध बोध कर रहे हैं उनकी भी दिशा प्रत्यक्ष, परोक्ष रूप से जैन कर्म सिद्धान्त की और हैं भले वे पूर्णतः लक्ष्य स्थल पर पहुचें नहीं हैं। जीनोम सिद्धान्त (डी.एन.ए., आर.एन.ए.) तथा "गाड जीन" की खोज उसके कुछ उदाहरण हैं। इस संबंधी खोज एवं समन्वय में भी मैं प्रयासरत हूँ। जिज्ञासु के लिए

(1) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन
(2) ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक, रसायन विज्ञान (परमाणु 23 वर्गणाऐं, कर्म भौतिकी)
(3) अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा, आदि मेरी कृतियाँ अवलोकनीय हैं।

प्रकृत कृति "जैन कर्म सिद्धान्त, अध्यात्म और विज्ञान - एक विश्लेषण" में डा0. नारायण लाल कछारा (सचिव धर्म दर्शन सेवा संस्थान) ने जैन कर्म सिद्धान्त का विवेचन धार्मिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा विभिन्न-धर्म-दर्शन के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से किया हैं। डा0. कछारा एक गम्भीर व्यक्तित्व के धनी हैं। प्रौढ़ अवस्था में भी उनकी जिज्ञासा खोज प्रवृति, सक्रियता कर्त्तव्यनिष्ठा का सुफल है जो ऐसी कृति का लेखन उन्होने किया। मेरा शुभाशीर्वाद लेखक के साथ-साथ प्रकाशक एवं इस कृति का सदुपयोग करने वालों के लिए हैं। मेरा प्रबुद्ध वर्ग के लिए आह्वान है कि आप सब भी डा0. कछारा के समान धर्म एवं विज्ञान का समन्वय करके स्व-पर, राष्ट, विश्व को मंगल - मय शान्तिपूर्ण विकसित बनाने में सत् पुरूषार्थ करें। विश्व मंगल की भावना से सहित -

धर्म एवं विज्ञान के सत्य/पवित्र पक्षधर

आचार्य कनकनन्दी

गनोड़ा (राज.)

21.11.2004

आमुख

कर्म सिद्धान्त जितना गंभीर है उतना ही सच है और शायद उसे भी अधिक पेचिदा हैं। पेचिदा इसलिए कि हम किये हुए कार्यों के परिणामों को तो स्वीकार करते है परन्तु यह निश्चयपूर्वक नही जानते कि यह सब होता कैसे हैं। प्रकृति ने ऐसी क्या व्यवस्था कर रखी है कि मनुष्य को उसके अच्छे और बुरे कार्यों के फल भोगने ही पडते है, चाहे इसी जन्म में या इतर जन्मों में। भारतवर्ष ऋषियों की पुण्य भूमि रहा हैं। यहाँ अरिहन्तों ने, आचार्यों ने, ऋषियों ने अपने अध्यात्म बल से प्रकृति के गूढ रहस्यों का साक्षात्कार किया, उन रहस्यों में एक कर्म सिद्धान्त भी हैं। मानव जीवन को सही दिशा देने के लिए कदाचित् यह सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। चाहे श्रमण परम्परा हो या वैदिक परम्परा, सभी ज्ञानियों ने एक स्वर से कर्म सिद्धान्त का उद्घोष किया हैं और घोषणा की है कि कर्म सिद्धान्त उतना ही सच है जितना जीवन के बाद मृत्यु। इसमें किसी शक या संदेह को स्थान नही। हमारे ऋषि मुनियों ने अध्यात्म बल पर जिस सत्य को प्रकट कर दिया आज के बुद्धिजीवी और वैज्ञानिक उसका परीक्षण करना चाहते हैं। मन्तव्य बुरा नही है परन्तु, उनके पास वे साधन नहीं हैं जिनसे प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों की परीक्षा की जा सके। विज्ञान सूक्ष्म इलेक्ट्रान कण की गति और स्थिति को एक साथ नही माप सकता क्योंकि फोटोन कण जिसके माध्यम से यह मापन किया जाता है, इलेक्ट्रान को प्रभावित करता हैं। परन्तु अध्यात्मवेत्ता के लिए यह संभव है क्योंकि वह इस कार्य के लिए किसी पुद्गल कण की सहायता नही लेता, अपनी आत्म शक्ति से सूक्ष्म से सूक्ष्म कण को भी देख सकता हैं। इसीलिए पाश्चात्य धर्म विज्ञानी सी. डब्लयू लीडबीटर कहते है "भारतीयों के किसी विषय को समझना और उस पर पुस्तक लिखने का तरीका हमारे तरीके से विपरीत हैं। वे ऊपर से नीचे चलते है जैसा कि ऋषियों ने किया। पहले उन्होने पूर्ण सच्चाई को समझा और फिर विश्वास और निश्चितता से कहा कि 'ऐसा ही होता हैं।' परन्तु हम तो नीचे से ऊपर की और चलते हैं। परिश्रम से छोटे–छोटे तथ्य इकट्ठे करते है और उनका परीक्षणों से, जो बार बार किए जाते हैं, तुलनात्मक अध्ययन करके, कुछ निर्णय पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। परन्तु फिर भी इस प्रकार वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किए परिणाम प्राचीन भारतीय ऋषियों के परिणामों से मेल खाते हैं।" ठीक यही तथ्य जैन कर्म सिद्धान्त के बारे में इस पुस्तक में प्रमाणित हुआ हैं।

आज का बुद्धिजीवी वर्ग तर्क की भाषा समझता है आस्था और श्रद्धा में उसका विश्वास उठ सा गया हैं। ऋषियों और मुनियों के द्वारा अनुभूत सत्य को भी वह तर्क के तराजू पर तौलता हैं। कर्म सिद्धान्त को हमारे शास्त्रों में कई प्रकार के तर्कों से समझाया गया है परन्तु वैज्ञानिक भाषा के अभाव में वह आसानी से स्वीकार

नहीं किया जाता। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि कर्म सिद्धान्त की व्याख्या वैज्ञानिक तर्क के आधार पर भी की जाय। धर्म की प्रतिष्ठा को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए इसके अलावा कोई रास्ता भी नही हैं। जो सच है उसे किसी भी कसौटी पर कसें वह खरा ही उतरेगा। विज्ञान भी सत्य का अनुगामी हैं और धर्म से इसका कोई विरोध नही हो सकता। इस विषय पर आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है–"बहुत लोगों का एक स्वर है कि विज्ञान ने धर्म को हानि पहुँचाई है, जनता को धर्म से दूर किया हैं। किन्तु यह स्वर वास्तविकता से दूर प्रतीत होता हैं। मेरी निश्चित धारणा है कि विज्ञान ने धर्म की बहुत सत्यस्पर्शी व्याख्या की है और वह कर रहा हैं। जो सूक्ष्म रहस्य धार्मिक व्याख्या ग्रंथों में अव्याख्यात है, जिनकी व्याख्या के स्रोत उपलब्ध नही है, उनकी व्याख्या वैज्ञानिक शोधों के सन्दर्भ में बहुत प्रामाणिकता के साथ की जा सकती हैं। कर्मशास्त्र की अनेक गुत्थियों को मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सन्दर्भ में सुलझाया जा सकता हैं। आज केवल भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृति ही पर्याप्त नही हैं। दर्शन और विज्ञान की संबंधित शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत अपेक्षित है। ऐसा होने पर दर्शन के नये आयाम उद्घटित हो सकते हैं।" इस पुस्तक में एक ऐसा ही प्रयास किया गया हैं।

पुस्तक के विषय को प्रतिपादित करने के लिए ज्ञान के सभी स्रोतों का खुलकर उपयोग किया गया हैं। पुस्तक में जैन दर्शन, वैदिक परंपरा, योग शास्त्र और वैज्ञानिक शोधों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया हैं और जैन कर्म सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करने और उसके क्रियात्मक पक्ष को समझने में उनकी भरपूर सहायता ली गयी हैं। विषयवस्तु को समग्रता से आत्मसात करने के लिए कर्म सिद्धान्त से संबंधित सभी विषयों पर तथ्य संकलित किए गए है और उन्हें व्याख्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया हैं।

पहले अध्याय में जैन कर्म सिद्धान्त के मुख्य पहलुओं का संक्षेप में वर्णन है। दूसरे अध्याय में आत्म स्वरूप की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या की गई हैं। तीसरे अध्याय से सातवें अध्याय तक सूक्ष्म शरीर से संबंधित विभिन्न विषयों को जैन दर्शन, वैदिक और योग दर्शन तथा वैज्ञानिक शोधों के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया हैं। सातवें अध्याय में मस्तिष्क पर विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभाव के वैज्ञानिक खोज की समीक्षा की गई हैं। आठवें अध्याय में चर्चित विषय जीन्स और क्लोनिंग को कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में समझा गया हैं। नौवें अध्याय में जैन कर्मसिद्धान्त के क्षेत्र में अब तक की सबसे महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोज जैव प्रकाश की कार्मण शरीर से तुलना की गई हैं। अन्तिम अध्याय इस पुस्तक का हृदय हैं। इस अध्याय में कार्मण शरीर और तैजस शरीर के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए उनके कार्यों और क्रियात्मक पक्ष को समझने का प्रयास किया गया हैं। यह प्रमाणित किया गया है कि कार्मण शरीर और तैजस शरीर दोनों ही विद्युत चुम्बकीय प्रकृति के है और

दोनों ही जीवात्मा के प्रयोजन की सिद्धी के लिए आवश्यक है, वे एक दूसरे को सहयोग भी करते हैं। आश्चर्यचकित करने वाला तथ्य यह पाया गया कि तैजस शरीर और कार्मण शरीर के बारे में जो विवरण आगमों में उपलब्ध है वह विज्ञान के आधुनिकता शोध से इतना साम्य रखता है कि आचार्यों के ज्ञान के आगे नतमस्तक हो जाना पड़ता हैं। पुस्तक में जैन कर्म सिद्धान्त का जो वैज्ञानिक स्वरूप उभर कर आया है, मेरे विचार से वह इस सिद्धान्त के अनेक गूढ रहस्यों को स्पष्ट करने में सहायक होगा।

परम पुज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के वैज्ञानिक दृष्टिकोण और अध्यात्म के वैज्ञानिक प्रतिपादन पर उनके साहित्य के विपुल भण्डार ने मेरे विचारों को अत्यधिक प्रभावित किया हैं। उनके विचारों ने जीवन के प्रति मेरी सोच को बदल दिया। वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनक नंदी जी गुरुदेव से मैने जैन धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को समझा और उन्हीं से यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। आधुनिक जैन साहित्य में आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी का लेखन एक मौलिक विचार पद्धति प्रस्तुत करता हैं और जैन दर्शन का आधुनिक मनोविज्ञान और विज्ञान से तुलनात्मक अध्ययन का एक अमूल्य स्रोत हैं। मैं इन सब महापुरुषों का अत्यन्त आभारी हूँ, उनके विचार उन्ही के शब्दों में इस पुस्तक में सर्वत्र प्रकाशित हो रहें हैं। मैं उन वैज्ञानिकों और विद्धानों का भी आभारी हूँ जिनके शोध परिणाम और विचार इस पुस्तक की विषयवस्तु को प्रतिपादित करने में सहायक हुए हैं।

आर्यिका ऋद्धि श्री माताजी ने पांडुलिपि को पढ़ा और भाषा तथा टंकण संबंधी अशुद्धियों को ठीक करने में सहायता की। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला कछारा और मेरे सुपुत्र संजीव कछारा ने प्रकाशन हेतु अर्थ सहयोग प्रदान किया। मेरे सुपुत्र विनय कछारा ने कम समय में कम्पोजिंग का कार्य पूरा किया। सबको मेरा हार्दिक धन्यवाद।

डा. नारायण लाल कछारा

30.11.2004

अनुक्रमणिका

I. आशीर्वचन 3

II. शुभाशीर्वाद एवं आह्वान 4

III. आमुख 7

1.0 जैन कर्म सिद्धान्त

1.1	कर्मवाद	13
1.2	संस्कार और कर्म	14
1.3	द्रव्य कर्म और भाव कर्म	16
1.4	कर्मबंध के भेद	17
1.5	कर्म का उदय	19
1.6	जैनेतर मत	21
1.7	कर्म की अवस्थाएं	23
1.8	अष्ट कर्म	25
1.9	आस्रव	29
1.10	निर्जरा	30
1.11	कार्मण शरीर	32
1.12	समीक्षा	33
1.13	संदर्भ	34

2.0 आत्मा का स्वरूप और आत्म विकास

2.1	आत्मा का स्वरूप	35
2.2	योग	38
2.3	आत्म विकास	40
2.4	आवेग	43
2.5	गुणस्थान	46
2.6	समीक्षा	51
2.7	संदर्भ	53

3.0 सूक्ष्म शरीर के तंत्र- अध्यवसाय, लेश्या, मन और चित

3.1	सूक्ष्म शरीर	54
3.2	अध्यवसाय	54
3.3	लेश्या–तंत्र	57

3.4	मन	60
3.5	चित	64
3.6	समीक्षा	65
3.7	संदर्भ	67

4.0 प्राण और प्राणशक्ति

4.1	प्राण तत्व	68
4.2	मनुष्य शरीर में प्राण	73
4.3	प्राणः जैन दृष्टिकोण	78
4.4	समीक्षा	81
4.5	संदर्भ	83

5.0 पंचकोश, ऊर्जा शरीर और आभामण्डल

5.1	पंचकोश	84
5.2	ऊर्जा शरीरः पाश्चात्य दृष्टिकोण	89
5.3	सात ऊर्जा शरीर	95
5.4	आभामण्डल	100
5.5	समीक्षा	104
5.6	संदर्भ	106

6.0 चक्र और ग्रंथितंत्र

6.1	योग शास्त्र में चक्र	107
6.2	चक्रः पाश्चात्य दृष्टिकोण	110
6.3	चक्र ऊर्जा का अवरोध और निदान	117
6.4	अन्तः स्त्रावी ग्रंथियाँ	121
6.5	चैतन्य केन्द्रः जैन दृष्टिकोण	129
6.6	समीक्षा	133
6.7	संदर्भ	135

7.0 स्नायुतंत्र, मस्तिष्क और विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र

7.1	स्नायुतंत्र	136
7.2	स्वप्न	143
7.3	मस्तिष्क पर विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव	144
7.4	ध्यान का मस्तिष्क पर प्रभाव	149

7.5 समीक्षा 150
7.6 संदर्भ 151

8.0 कोशिका, जीन्स और क्लोनिंग
8.1 कोशिका 152
8.2 जीन्स 154
8.3 क्लोनिंग 158
8.4 पृथ्वी पर जीवन का उद्गम 161
8.5 समीक्षा 163
8.6 संदर्भ 165

9.0 जैव विद्युत और जैव प्रकाश
9.1 जैव विद्युत 166
9.2 जैव प्रकाश 170
9.3 कुछ नवीनतम शोध परिणाम 175
9.4 समीक्षा 177
9.5 संदर्भ 178

10.0 तैजस शरीर और कार्मण शरीर का वैज्ञानिक स्वरूप
10.1 वर्तमान परिदृश्य 179
10.2 तैजस शरीर और कार्मण शरीर का स्वरूप 180
10.3 कर्मबंध की प्रक्रिया 182
10.4 कर्म की अवस्थाओं में परिवर्तन 184
10.5 अनुभव काल की व्यवस्था 186
10.6 सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था 188
10.7 समीक्षा 189

अध्याय 1

जैन कर्म सिद्धान्त

1.1 कर्मवाद

भारतीय जन मानस मे यह धारणा है कि प्राणी मात्र को सुख और दुःख की जो उपलब्धि होती हैं वह स्वयं के किये गये कर्म का ही प्रतिफल हैं। जो जैसा करता हैं वह वैसा ही फल प्राप्त करता हैं। कर्म से बंधा हुआ जीव अनादिकाल से नाना गतियों और योनियों मे परिभ्रमण कर रहा हैं। वैज्ञानिक जगत में तथ्यों और घटनाओं की व्याख्या के लिए जो स्थान कार्य–कारण सिद्धान्त का हैं, जीवन दर्शन में वही स्थान कर्म सिद्धान्त का हैं। कर्म सिद्धान्त की प्रथम मान्यता हैं कि प्रत्येक क्रिया उसके परिणाम से जुड़ी हैं। उसका परवर्ती प्रभाव और परिणाम होता हैं। कर्म सिद्धान्त की दूसरी मान्यता यह है कि उस परिणाम की अनुभूति वही व्यक्ति करता है जिसने पूर्ववर्ती क्रिया की हैं। पूर्ववर्ती क्रियाओं का कर्ता ही उसके परिणाम को भोगता हैं। कोई प्राणी अन्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता हैं। कर्म सिद्धान्त की तीसरी मान्यता है कि कर्म और उसके विपाक की यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही हैं।

विश्व में विभिन्नता है। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के विभिन्न आचरण और व्यवहार हैं। इस विभिन्नता का कोई–न–कोई कारण होना चाहिए। विश्व – वैचित्र्य के कारणों की खोज करते हुए भिन्न–भिन्न विचारकों ने भिन्न–भिन्न मतों का प्रतिपादन किया हैं। कुछ विचारक इस बात की संस्थापना करते हैं कि संसार की उत्पत्ति का आदि कारण काल हैं। कुछ विचारक यदृच्छा को ही विश्व का कारण स्वीकार करते हैं। कुछ विचारक पृथ्वी आदि भूतों को तो कुछ विचारक पुरूष या ईश्वर को ही संसार का कर्त्ता कहते हैं। कर्मवाद में काल आदि मान्यताओं का सुन्दर समन्वय करते हुए कहा गया हैं कि जैसे किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नही अपितु अनेक कारणों पर अवलम्बित होती हैं वैसे ही कर्म के साथ–साथ अन्य कारण भी विश्व–वैचित्र्य के कारण हैं। विश्व–वैचित्र्य का मुख्य कारण कर्म हैं और उसके सहकारी कारण है काल, स्वभाव, नियति और पुरूषार्थ।

जैन परम्परा में जिस अर्थ में "कर्म" शब्द का प्रयोग हुआ हैं उस या उससे मिलते–जुलते अर्थ में भारत के विभिन्न दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृश्ट, संस्कार, देव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ हैं। भारतीय दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन हैं जिसका कर्मवाद में विश्वास

नहीं हैं क्योंकि वह आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं मानता हैं। इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नहीं मानता हैं किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ संस्कार या वासना मानते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्‌गलिक मानता हैं। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं हो सकता है। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का कारण नहीं हो सकता। कर्म आत्मा का गुण नहीं हो सकता। जो पुद्‌गल–परमाणु कर्म रूप में परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं और जो शरीर रूप में परिणत होते हैं उन्हें नोकर्म वर्गणा कहते हैं। शरीर पौद्‌गलिक हैं, उसका कारण कर्म हैं, अतः कर्म भी पौद्‌गलिक हैं।

इन्द्रियों के विषय–स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये मूर्त हैं और उनका उपयोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख–दुःख भी मूर्त है, अतः इनके कारण भूत कर्म भी मूर्त हैं। मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता हैं, मूर्त ही मूर्त से बंधता हैं। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता हैं, वह उन कर्मों से अवकाश–रूप हो जाता है। कर्म की प्रकृति के बारे में और विचार आगे किया गया हैं।

1.2 संस्कार और कर्म

कर्म वासना या संस्कार नहीं हैं। वासना और संस्कार हमारे ज्ञान के क्रम में होने वाली कड़ियाँ हैं। कर्म का हेतु अज्ञान हैं। हम किसी वस्तु का ज्ञान कैसे करते हैं? सबसे पहले उस वस्तु का सामान्य ग्रहण होता हैं जिसे अवग्रह करते हैं। अवग्रह के बाद ईहा होती है जिसमें हम गृहीत वस्तु पर विमर्श करते हैं कि यह वस्तु क्या हैं। विमर्श करते–करते हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह अमुक वस्तु हैं। यह अवाय हैं – निश्चयात्मक ज्ञान है। अब वस्तु के प्रति संशय नहीं रहता, निश्चय हो जाता कि यह वही है। निश्चय के पश्चात् धारणा होती है। जो निश्चय होता है वह हमारी धारणा में स्थिर हो जाता हैं। वह हमारे स्मृति–कोष्ठों में चला जाता हैं। अवग्रह और ईहा में थोड़ा समय लगता हैं, अवाय मे कुछ ज्यादा समय लगता है, किन्तु धारणा दीर्घ काल तक चलती हैं और उसका कालमान दीर्घ होता हैं। वह वैसी की वैसी हजारों वर्ष तक बनी रह सकती है। धारणा का ही एक नाम है वासना या संस्कार। वही धारणा, वासना या संस्कार किसी निमित्त को पाकर जब उद्‌बुद्ध होती है तब स्मृति होती है। धारणा अच्छी या बुरी हो सकती है और उसका परिणाम अच्छा या

बुरा हो सकता हैं। कोई परिस्थिति, कोई परिवेश, कोई हेतु ऐसा मिला और जो बात स्मृति प्रकोष्ठ में थी, वह जाग गई और स्मृति के रूप मे उभर आई। मनोविज्ञान इसे "स्मृति–चित्र" कहता है। ये सारे कार्य वासना और संस्कार के हैं, इनके साथ हम अच्छाई और बुराई नहीं जोड़ सकते। प्रश्न होता हैं कि यह कार्य किसका है? स्मृति के उभरने के बाद अच्छाई और बुराई को जोड़ने वाली एक तीसरी सत्ता है और वह कर्म हैं। कर्म संस्कार या धारणा से भिन्न हैं क्योंकि कर्म ज्ञान के क्रम में नहीं बनता। केवल ज्ञान का जो क्रम है, वहाँ कर्म की रचना नहीं होती, कर्म का संबंध हमारी आत्मा के साथ स्थापित नहीं होता। यह संबंध कब और कैसे स्थापित होता हैं इस प्रश्न पर विचार करें।

कर्म पुद्गल कार्मण वर्गणा के रूप में समस्त लोकों में व्याप्त हैं और विशिष्ट अवस्था में जीवात्मा से संयोग करते हैं। राग – द्वेषादि से युक्त संसारी जीव में प्रति समय मन–वचन–काया से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच निमित्तो से तथा प्रत्येक कर्म के विशिष्ट कारणों से होने वाली परिस्पन्दन रूप क्रिया से आत्मा के प्रति आकृष्ट होकर कार्मण वर्गणा के पुद्गल आते हैं। राग–द्वेष का निमित्त पाकर ये पुद्गल आत्म प्रदेशों से श्लिष्ट (बद्ध) हो जाते हैं और कर्म का निर्माण करते हैं। मन–वचन–काय की प्रवृति तभी होती हैं जब जीव के साथ कर्म का संबंध हो। जीव के साथ कर्म का तभी सम्बद्ध होता हैं जब मन–वचन काय की प्रवृति हो। इस तरह प्रवृति से कर्म और कर्म से प्रवृति की परम्परा अनादि काल से चली आ रही हैं।

आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त । अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का संबंध कैसे स्थापित होता हैं, यह प्रश्न सहज ही उभरता हैं। किन्तु अमूर्त और मूर्त में ऐसा विरोध नहीं है कि उनके बीच संबंध स्थापित नहीं हो सके। आत्मा ओर कर्म में एकात्मकता नहीं हो सकती परन्तु संबंध हो सकता हैं। कर्म पुद्गलों द्वारा चेतना के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता हैं और चेतना के द्वारा कर्म–पुद्गलों के स्वरूप में भी कोई परिवर्तन नहीं होता हैं। दोनों का संयोग या संबंध होता हैं और संयोगकृत या संबंधकृत परिवर्तन दोनों में अवश्य होता हैं। चेतना का अपना उपादान है और कर्म पुदगलों का अपना उपादान हैं। उपादान में कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल निमित्तों का परिवर्तन होता है। चेतना के उपादान को कुछ बदलने में कर्म निमित्त बन सकते है और कर्म पुद्गलों के उपादान में कुछ परिवर्तन में चेतना निमित्त बन सकती हैं।

आत्मा के उपादान हैं–ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। ये उपादान कभी

नहीं बदलते। कितने ही कर्म परमाणु लग जायें, इनमें परिवर्तन नहीं ला सकते। पुदगल के उपादान हैं वर्ण, गंध, रस और स्पर्श । आत्मा इनमें कोई परिवर्तन नहीं ला सकती हैं। तो प्रश्न होता है कि आत्मा और कर्म में क्या संबंध है? यह सत्तागत और उपादानगत कुछ भी नहीं हैं। निमित्त की सीमा में जितना संबंध हो सकता हैं, उतना ही होगा। उसकी भी एक सीमा हैं। कर्म का निमित्त मिलता हैं तो अमूर्त आत्मा मूर्त रूप में व्यवहार करने लग जाता हैं। जिस दिन मूर्त सर्वथा टूट जोयगा तब केवल अमूर्त ही शेष होगा।

जैन दर्शन में कर्म परम्परा कर्म विशेष की अपेक्षा से सादि और सान्त है और प्रवाह की दृष्टि से अनादि अनन्त हैं। कर्म प्रवाह भी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से अनादि तो है परन्तु अनन्त नही है क्योंकि व्यक्ति नवीन कर्मों का बंध रोक सकता हैं। जब व्यक्ति में राग–द्वेष रूपी कषाय का अभाव हो जाता है तो नये कर्मों का बंध नही होता और कर्म प्रवाह की परम्परा समाप्त हो जाती हैं। साधना के द्वारा संचित कर्मो का क्षय करने पर आत्मा कर्म मुक्त हो जाता है, मुर्त से अमुर्त हो जाता हैं।

कर्म की मर्यादा क्या है? जैन कर्म सिद्धान्त का यह स्पष्ट अभिमत है कि कर्म का संबंध व्यक्ति के शरीर, आत्मा और मन से हैं। व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा की सुनिश्चित सीमा है और कर्म उसी सीमा में कार्य करता हैं। संसारी आत्मा हमेशा किसी न किसी शरीर से बद्ध रहता है और सम्बद्ध कर्म पिण्ड भी उसी शरीर की सीमाओं में स्थित रहता है।

जीव की विविध अवस्थाएं कर्मजन्य हैं। शरीर, इंद्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन–वचन आदि जीव की विविध अवस्थाएं कर्म के कारण हैं। किन्तु पत्नी या पति की प्राप्ति, पुत्र–पुत्री की प्राप्ति, संयोग–वियोग, हानि–लाभ, सुकाल और दुष्काल, प्रकृति–प्रकोप, राज–प्रकोप आदि का कारण अपना होता है, हमारा कर्म नहीं। यह ठीक है कि कुछ कर्मों व घटनाओं में हमारा यत्किंचित निमित्त हो सकता है किन्तु उनका मूल स्रोत उन्हीं के अन्दर है, हमारे में नहीं। सारांश यह है कि अपने से पृथ्क सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पति और विनाश उनके अपने कारणों से होता है हमारे कर्म के उदय के कारण नही होता।

1.3 द्रव्य कर्म और भाव कर्म

कर्म के दो भाग हैं द्रव्य कर्म और भाव कर्म। आत्म प्रदेशों से संबद्ध कर्म परमाणुओं का पिण्ड द्रव्य कर्म है और आत्मा की राग – द्वेषादि प्रवृतियों को भाव कर्म

कहा गया हैं।

पहले यह स्पष्ट किया गया है कि जड़ कार्मण परमाणुओं और चेतन आत्म तत्व के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्य कर्म हो या भाव कर्म उसमें जड़ और चेतन नामक दोनो प्रकार के तत्व मिले रहते हैं। जड़ और चेतन के मिश्रण हुए बिना कर्म की रचना नहीं हो सकती हैं। द्रव्य कर्म में पौद्‌गलिक तत्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्व गौण होता है। भाव कर्म में आत्मिक तत्व की प्रधानता होता है और पौद्‌गलिक तत्व गौण होता है। द्रव्य कर्म को पुद्‌गल परमाणुओं का शुद्ध पिण्ड माने तो कर्म और पुद्‌गल में अन्तर ही क्या रहेगा? इसी तरह भाव कर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृति मानी जाय तो आत्मा और कर्म में भेद क्या रहेगा? इस अन्तर को समझने के लिए हमें संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर समझना होगा। कर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व का संबंध संसारी आत्मा से है मुक्त आत्मा से नहीं है। संसारी आत्मा कर्मो से बंधा है, उसमें चैतन्य और जड़त्व का मिश्रण है। कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि तब दोनो में अन्तर क्या है? उत्तर है कि संसारी आत्मा का चेतन अंश जीव कहलाता है और जड़ अंश कर्म कहलाता हैं। ये चेतन और जड़ अंश इस प्रकार के नहीं हैं जिनका संसार अवस्था में अलग–अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था में ही होता हैं। आत्मा से संबद्ध पुद्‌गल द्रव्य कर्म है और द्रव्यकर्मयुक्त आत्मा की प्रवृति भाव कर्म हैं। आत्मा के साथ भाव कर्म का योग हैं। भाव कर्म अर्थात् कर्म का चित। द्रव्य कर्म यानी भाव कर्म का एक शारीरिक आकार जो भाव कर्म का संवादी कार्य करता हैं। भाव कर्म और द्रव्य कर्म में पूरी संवादिता हैं। द्रव्यकर्म भावकर्म का प्रतिबिम्ब है। भाव कर्म द्रव्य कर्म को प्रभावित करते हैं और द्रव्य कर्म भाव कर्म को प्रभावित करते हैं। दोनों एक दूसरे का परस्पर सहयोग करते हैं। द्रव्य कर्म के होने में भाव कर्म और भाव कर्म के होने में द्रव्य कर्म कारण हैं। द्रव्य कर्म में न्यूनाधिकता होने पर भाव कर्म में भी स्वतः न्यूनाधिकता हो जाती है और भावकर्म में न्यूनाधिकता होने पर उसी के अनुरूप द्रव्य कर्म में भी न्यूनाधिकता हो जाती है। द्रव्य कर्म और भाव कर्म में हमेशा संतुलन बना रहता हैं।

1.4 कर्मबंध के भेद

कर्म का पुद्‌गल कर्म वर्गणा हैं। कर्म वर्गणा समस्त लोकों में व्याप्त हैं। इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ कर्म वर्गणा का पुद्‌गल न हो। मन–वचन–काया की प्रवृति को योग कहा गया हैं। प्राणी जब योग की प्रवृति करता हैं और

कषाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है तब कर्म योग्य पुद्गलों को आकृष्ट करता है। आगमों में स्पष्ट निर्देश हैं कि एकेन्द्रिय जीव बाधा न होने पर छहों दिशाओं से कर्म पुद्गल ग्रहण करते हैं, बाधा होने पर कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओं से कर्म पुद्गल ग्रहण करते हैं। शेष जीव नियम से सर्व दिशाओं से कर्म पुद्गल ग्रहण करते हैं। जीव जिन क्षेत्र में स्थित हैं उसी क्षेत्र के कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता हैं। योग और कषाय के अनुसार कर्मबंध होता हैं। कर्मबंध के चार अंगभूत भेद या व्यवस्थाएँ है– प्रदेश बंध, प्रकृति बंध, अनुभाग (रस) बंध, और स्थिति बंध।

(क) प्रदेश बंध :– जैन दर्शन आत्मा के असंख्यात प्रदेश मानता हैं। एक आत्म प्रदेश पर संख्यात, असंख्यात और अनन्त कर्म परमाणुओं का बंध हो सकता है। योगों की चंचलता के अनुसार न्युनाधिक रुप में जीव कर्म पुदगलों को ग्रहण करेगा। योगों की प्रवृति मन्द होगी तो कर्म परमाणुओं की संख्या भी कम होगी। आगमिक भाषा में एक आत्म प्रदेश पर बंधने वाले कर्म परमाणुओं की संख्या को प्रदेश बंध कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं, उन असंख्यात प्रदेशों में एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म प्रदेशों का बंध होना प्रदेश–बंध हैं। सभी आत्म प्रदेशों में प्रदेश बंध एक समान और एक साथ होता हैं। बंध अवस्था में जीव और कर्म दोनो का विजातीय रूप रहता है, किन्तु दोनों के पृथक–पृथक हो जाने पर दोनों पुनः अपने–अपने स्वभाव में आ जाते हैं। कर्म बंध के प्रभाव से आत्मा अपने निजी अष्टगुणों के प्रकटीकरण से वंचित रहता हैं। वे आवृत और कुण्ठित हो जाते हैं।

ख) प्रकृति बंध :– योगों की प्रवृति द्वारा ग्रहण किए गये कर्म – परमाणु ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना, सुख–दुख का अनुभव कराना आदि विभिन्न प्रकृतियों के रूप में परिणत होते हैं। आत्मा के साथ बद्ध होने से पूर्व कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल एक रूप थे, बद्ध होने के साथ ही उनमें नाना प्रकार के स्वभाव और शक्तियाँ उत्पन्न हो जाते हैं। इसे आगम की भाषा में प्रकृति बंध कहते हैं। प्रकृति बंध दो प्रकार के है– मूल प्रकृति बंध और उत्तर प्रकृति बंध। मूल प्रकृति बंध आठ प्रकार के हैं– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र । इन आठ मूल प्रकृतियों को विभाजित कर 148 प्रकार की उत्तरप्रकृतियां होती हैं। यह भेद माध्यमिक विवक्षा से है, वस्तुतः कर्म के असंख्यात प्रकार हैं और तदनुसार कर्म शक्तियाँ भी असंख्यात प्रकार की होती हैं।

प्रदेश बंध और प्रकृति बंध ये दोनो योगों की प्रवृति से होते हैं। केवल योगों की प्रवृति से जो बंध होता हैं वह सूखी दीवार पर हवा के झोंके के साथ आने वाले रेत कण के समान होता हैं। कषाय रहित प्रवृति से होने वाला कर्मबंध निर्बल,

अस्थायी और नाममात्र का होता हैं, इससे संसार नहीं बढ़ता। योगों के साथ कषाय की प्रवृति होने पर बंध में बल और स्थायित्व आ जाता है।

ग) स्थिति बंध – योगों के साथ कषाय की जो प्रवृति होती है उससे अमुक समय तक आत्मा से पृथ्क न होने की कालमर्यादा कर्म में निर्मित होती है। यह कालमर्यादा आगम की भाषा में स्थिति बंध हैं। वह स्थिति दो प्रकार की बताई गई हैं– जघन्य (कम से कम) स्थिति और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) स्थिति। जैन कर्म विज्ञान ने कर्म की आठों मूल प्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियों का जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का स्पष्ट निरूपण किया हैं। जब तक कर्म उदय में नहीं आता तब तक वह जीव को बाधा नहीं पहुँचाता हैं। इस काल को "अबाधाकाल" कहते हैं। इस काल में कर्म सत्ता में पड़ा रहता हैं। उदय में आने के बाद भी कर्म कुछ काल के लिए अपना फल देता रहता हैं और अन्त में वह कर्म शरीर से अलग हो जाता हैं।

घ) अनुभाग (रस) बंध – जीव के द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मों की प्रकृतियों का तीव्र, मन्द आदि विपाक अनुभाग बंध हैं। कर्म के शुभ या अशुभ फल की तीव्रता या मन्दता रस हैं। उदय में आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मन्द कैसा होगा, यह कर्मबंध के समय ही नियत हो जाता हैं। वह जैसा भी तीव्र, मध्यम या मन्द होता है, कर्मबंध के उत्तरकाल में तदनुरूप फलभोग प्राप्त होता हैं। तीव्र और मन्द रस के भी कषाययुक्त लेश्या के कारण असंख्य प्रकार हो सकते हैं। प्रकृति बंध और अनुभाग बंध का मूल कारण कषाय हैं।

1.5 कर्म का उदय

उदय का अर्थ कर्म की काल मर्यादा का परिवर्तन हैं। कर्म के विपाक – प्रदर्शन का सामर्थ्य निश्चित अवधि यानि अबाधाकाल के पश्चात् होता हैं। कर्म के उदय होने के पश्चात् जीव उसका फल कुछ समय के लिए भोगता हैं। यह अवधि अनुभव काल कहलाती है। कर्म का उदय नियत काल मर्यादा पूर्ण होने पर भी हो सकता हैं और प्रयत्न पूर्वक या विशेष परिस्थितियों में उसके पूर्व भी हो सकता हैं। जब कर्म का भोग काल मर्यादा पूर्ण होने पर प्रारम्भ होता हैं तो वह प्राप्तकाल का उदय हैं। लम्बे काल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तप आदि साधना के द्वारा विफल बनाकर स्वल्प समय में भोग लिए जाते हैं, वह अप्राप्तकाल कर्म का उदय कहलाता हैं।

कर्म का परिपाक और उदय सहेतुक भी होता हैं और निर्हेतुक भी अर्थात् अपने आप भी होता हैं और निमित्त कारणों से भी । स्वतः उदय में आने वाले कर्म

के हेतु निम्न हैं :

क) गति हेतुक उदय– यह उदय गति के अनुसार होता हैं जैसे नरक गति में असाता कर्म का तीव्र उदय होता हैं। इसे गति हेतुक विपाक कहते हैं।

ख) स्थिति हेतुक उदय – यह उदय परिस्थिति के अनुसार होता हैं। मोह कर्म की उत्कृष्टतम स्थिति में मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। ऐसी परिस्थिति में प्राप्तकाल मोह कर्म के साथ–साथ अप्राप्त काल मोह कर्म का भी उदय हो जाता है जिससे फल की तीव्रता बढ़ जाती है। यह स्थिति हेतुक उदय है।

ग) भव–हेतुक उदय – यह उदय भव के अनुसार होता हैं। दर्शनावरण कर्म (जिसके उदय से नींद आती है) सभी संसारी जीवों में होता है परन्तु सभी भवों में उदय नहीं होता । मनुष्य और तिर्यंच भव में दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। इसलिए मनुष्य और तिर्यंच को नींद आती है। देव और नारकों में यह उदय नहीं होता है और उन्हें नींद नहीं आती। यह भव– हेतुक विपाक उदय है।

उपरोक्त तीनों कारणों से कितने ही कर्मो का स्वतः विपाक उदय हो जाता है। दूसरों के द्वारा यानी निमित्त कारणों से उदय में आने वाले कर्म के हेतु द्रव्य, श्रेत्र, काल और भाव हैं इन्हें हम पुद्गल – विपाक, श्रेत्र–विपाक, काल–विपाक और भाव – विपाक कह सकतें हैं।

घ) पुद्गल – हेतुक उदय :– किसी अन्य व्यक्ति के पत्थर फेंकने से चोट लग गई और घाव हो गया, असाता कर्म का उदय हो गया। किसी व्यक्ति ने हमें अपशब्द कहा और हमें क्रोध आ गया, क्रोध वेदनीय कर्म का उदय हो गया।

पुद्गल परिणाम के द्वारा होने वाला उदय– स्वादिष्ट भोजन बना और हमने अधिक खा लिया । हमें अजीर्ण हो गया.और रोग उत्पन्न हो गये। यह असाता–वेदनीय कर्म का विपाक उदय हैं।

हम मन्दिर या पवित्र स्थान पर गये, शुभ भावों का संचार हो गया और हमें शांति की अनुभूति हुई। हम जुआघर में गये अशुभ भावों का संचार हुआ और हम कोई दुष्कर्म कर बैठे। यह कर्मो का श्रेत्र विपाक हैं। हम रेल में यात्रा कर रहे हैं, दुर्घटना हो गई और हम घायल हो गये। यह काल–विपाक है। हम टेलीविजन देख रहे हैं और मन में शुभ या अशुभ विचारों का संचार हो गया। कोई पुस्तक पढ़ रहे हैं या वैसे ही बैठे–बैठे कुविचार या सुविचार मन में आये और हमें दुःख या सुख की अनुभूति हो गई। यह भाव–विपाक है।

1.6 जैनेतर मत

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी कर्म पर विचार हुआ है और कर्म सिद्धान्त पर महत्वपूर्ण योगदान हुआ है। योग दर्शन में महर्षि पंतजलि के अनुसार वासनाएँ दो प्रकार की हैं। (1) स्मृति मात्र फल वाली, (2) जाति (पुनर्जन्म) आयु तथा भोगरूप वाली। कर्मो के अनुसार ही ये वासनाएं प्रकट होती हैं। जिस प्रकार के कर्मफल से मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, उसी प्रकार की स्मृति वासनाएं, दूसरी इन वासनाओं को जागृत कर देती हैं, जो संस्कार के रूप में अनेक जन्मों से अन्तःकरण में संग्रहीत हैं और जाति, आयु, फल, भोग वाली हैं। शेष वासनाएं चित्त भूमि में प्रसुप्त होकर दबी रहती हैं।

कई बार ऐसा होता है कि कोई कर्म किसी एक जन्म में किया गया है और कोई कर्म किसी अन्य जन्म में, ऐसी स्थिति में उन कर्मो में एक या अनेक जन्मों का अन्तर होता है। इसी प्रकार अलग–अलग कर्मो में देश और काल का भी अन्तर होता है, किन्तु जन्म, देश, काल का अन्तर होने पर भी कर्मफल के अनुसार वासना उत्पन्न होने में कोई दिक्कत नहीं पड़ती, अर्थात् किसी अन्य जन्म में किए गये कर्म का फल यदि इस जन्म में मिलना है, तो काल, जन्म, देश का अन्तर पड़ जाने पर भी उस कर्म के अनुसार वासना उत्पन्न होने में कोई अड़चन नही होती, क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एक ही होते हैं। जिस कर्म फल को उत्पन्न करने वाला निमित्त कारण प्रकट हो जाता हैं, तदनुकूल ही वासना भी प्रकट हो जाती हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी जीव को उसके पूर्वकृत कर्मफल भोगने के लिए गौ का शरीर मिलने वाला हैं, तो उसने पूर्व में गौ का शरीर जब कभी भी प्राप्त किया हैं तब उसकी वासना इस जन्म में प्रकट हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि उस जन्म के बाद बीच में चाहे जितने जन्म अन्य यौनियों में क्यों न हो चुके हो, फिर भी इस जन्म में उस जन्म की (जिसमें गौ का शरीर था) वासनाएँ प्रकट हो जाएगी। स्मृति और संस्कारों के एक्य होने से जो फल मिलता हैं, तदनुकूल ही स्मृति अर्थात् भोग वासना उत्पन्न हो जाती है।

प्रायः यह देखा जाता हैं कि प्रत्येक जीव मृत्यु के दुःख से भयभीत रहता हैं, इसी कारण तुरन्त जन्म लेने वाले बच्चे में भी मरने का भय देखा जाता है। इसी कारण उसके चेहरे पर विकृत चिन्ह, भय, कम्प आदि होते हैं। इन सबसे उसके पूर्व जन्म के राग–द्वेष एवं मृत्यु के समय होने वाले त्रास का आभास मिलता है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि सभी वासनाएँ अनादि हैं। मरण का दुःख वस्तुतः आत्मा को नहीं, चित्त को हुआ करता है और चित्त अनादि वासनाओं से आबद्ध हैं, अतः वासनाओं का अनादि होना सिद्ध होता हैं।

अविद्या आदि क्लेश तथा पाप–पुण्य आदि कर्म वासनाओं के हेतु हैं। जाति, आयु एवं भोग ये वासनाओं के फल हैं। चित्त इन वासनाओं का आश्रय है। इन्द्रियों के शब्द आदि विषय वासनाओं के आलम्बन हैं। इन्हीं के संबंध में वासनाएँ संग्रहीत होती हैं और वासनाओं का अस्तित्व बना रहता है, किन्तु जब इन चारों का अभाव हो जाता हैं तब वासनाएं भी विनष्ट हो जाती हैं। योग साधना में प्रवृत साधक जब समाधि साधना से तत्वज्ञान (विवेक ज्ञान, केवल ज्ञान) प्राप्त कर लेता हैं, तब अविद्या आदि क्लेश जो वासना का हेतु हैं विनष्ट हो जाते हैं। जब अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्म–ज्ञान हो जाता है, तब मात्र प्रारब्ध कर्म भोग हेतु ही जीवन चालू रहता हैं। ऐसी स्थिति में योगी पाप कर्म तो नहीं कर सकता और पुण्य कर्म शीघ्र फलदायी नहीं रहते। ऐसी स्थिति में चित्त अपने कारण में विलिन हो जाता हैं, फलतः पुरूष (आत्मा) का विषयों में कोई संबंध नहीं रह जाता। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन का अभाव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वासनाएँ भी नहीं रहती हैं। वासनाएँ समूल नष्ट हो जाने से योगियों का पुनर्जन्म नहीं होता। उनको मोक्ष प्राप्त हो जाता हैं।

सूफी संत मेहेर बाबा के अनुसार एक ही आत्मा के लिए स्त्री जन्म में तथा पुरूष जन्म में प्रकट होना अत्यंत आवश्यक हैं। दोनों जन्मों में प्रकट होने पर ही, उसका अनुभव सर्वांगीण तथा परिपक्व होता हैं। अनुभव की परिपक्वता के पश्चात् ही आत्मा को आगे चलकर, यह ज्ञान प्राप्त होता हैं, कि वह स्त्री–पुरूष भेद संबंधी तीव्र द्वैत–भाव तथा द्वैत के समस्त अन्यान्य रूपों से परे हैं।

आत्मा के अंतःकरण में पुरूष–जन्मों की अनुभव राशि भी संचित रहती है, तथा स्त्री–जन्मों की अनुभव राशि भी। आत्मा के अंतःकरण में संचित दोनों जन्मों की अनुभव–राशि में से, पुरूष–शरीर के द्वारा केवल पुरूष–जन्मों की संचित अनुभव राशि को अभिव्यक्त होने का उपयुक्त साधन मिलता है, तथा स्त्री– जन्मों की संचित अनुभव– राशि अंतःकरण के अचेतन भाग में दब जाती है, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति के लिए, पुरूष शरीर एक अनुकूल साधन नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के अंतःकरण मे संचित दोनों जन्मों की संचित अनुभव–राशियों में से स्त्री शरीर के द्वारा, केवल स्त्री–जन्मो की संचित अनुभव–राशि को अभिव्यक्त होने का युक्त माध्यम मिलता है, तथा पुरूष जन्मों की संचित अनुभव राशि अंतःकरण के अचेतन भाग में दब जाती है, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति के लिए, स्त्री शरीर एक अनुकूल साधन नहीं होता।

1.7 कर्म की अवस्थाएँ

मुख्य रूप से कर्म की दस अवस्थाएँ मानी गई हैं :–

1. बन्ध – बन्ध के बारे में उपर विस्तृत चर्चा की गई हैं। मुख्यतः कर्म बंध केवल मनुष्य और तिर्यन्च योनि में ही होता है जो कर्म योनि हैं। देव व नारकी भोग योनि हैं।

2. उद्वर्तना (उत्कर्षण) – आत्मा में कर्म–परमाणुओं के बद्ध होते समय जो काषायिक तारतमता होती हैं उसी के अनुसार बंधन के समय कर्म की स्थिति तथा तीव्रता का निश्चय होता है। उद्वर्तना के नियम के अनुसार आत्मा नवीन कर्म बंध करते समय पूर्व बद्ध कर्मो की काल मर्यादा और तीव्रता में वृद्धि करता है।

3. अपवर्तना (अपकर्षण) – सम्यक दर्शन, ज्ञान, चारित्र के कारण स्वतः अथवा तपश्चरण के द्वारा पूर्व उपार्जित कर्मो की स्थिति और अनुभाग में हानि होना अपवर्तना कहा जाता हैं।

4. सत्ता – जितने समय तक काल मर्यादा परिपक्व न होने के कारण कर्मो का आत्मा के साथ संबंध बना रहता हैं, उस अवस्था को सत्ता कहते हैं।

5. उदय– जब कर्म अपना फल (विपाक) देना प्रारम्भ कर देते हैं, उस अवस्था को उदय कहते हैं। जैन दर्शन यह मानता हैं कि सभी कर्म अपना फल प्रदान तो करते हैं लेकिन कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो फल देते हुए भी भोक्ता को फल की अनुभूति नहीं कराते हैं और निर्जरित हो जाते हैं । जैन दर्शन में फल देना और फल की अनुभूति होना ये अलग–अलग तथ्य माने गये हैं। जो कर्म बिना फल की अनुभूति कराये निर्जरित हो जाता हैं, उसका उदय प्रदेशोदय कहा जाता है। कषाय के अभाव में ईर्यापथिक क्रिया के कारण जो बंध होता हैं उसका मात्र प्रदेशोदय होता हैं। जो कर्म परमाणु अपनी फलानुभूति करवाकर आत्मा से निर्जरित हो जाते हैं, उनका उदय विपाकोदय कहलाता हैं। विपाकोदय की अवस्था में प्रदेशोदय होता ही है, लेकिन प्रदेशोदय की अवस्था में विपाकोदय हो ही, यह अनिवार्य नहीं है।

6. उदीरणा – नियतकाल से पूर्व ही प्रयासपूर्वक उदय में लाकर कर्मो के फलों को भोग लेना उदीरणा हैं। साधारणतया जिस कर्म प्रकृति का उदय चल रहा हैं, उसकी सजातीय कर्म प्रकृति की उदीरणा ही संभव है। इसमें दीर्घकाल के पश्चात तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म उसी समय और मन्द भाव से उदय में आ जाते हैं।

7. संक्रमण – एक मूल कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं। किसी मूल कर्म का एक अवान्तर भेद अपने सजातीय दूसरे अवान्तर भेद में बदल सकता है। यह अवान्तर कर्म प्रकृतियों का अदल बदल संक्रमण कहलाता है। ऐसा परिवर्तन कर्म की प्रकृति,

स्थिति, अनुभाग या प्रदेश किसी में भी हो सकता है। संक्रमण में आत्मा नवीन कर्म प्रकृति का बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति को मिलाकर नवीन कर्म प्रकृति में उसका रुपान्तरण कर सकता है। उदाहरणार्थ, पूर्व में बद्ध असातावेदनीय कर्म का नवीन सातावेदनीय कर्म का बंध करते समय ही सातावेदनीय कर्म प्रकृति के साथ मिलाकर उसका सातावेदनीय कर्म में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों में ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नही होता अर्थात् सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है, विजातीय प्रकृतियों में नही। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का आयु कर्म में संक्रमण नही हो सकता। इसी प्रकार कुछ उत्तर प्रकृतियाँ ऐसी है जिनका रुपान्तरण नही किया जा सकता है। जैसे दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय कर्म का आपस में रुपान्तरण नहीं होता। इसी प्रकार नरकायु के बन्ध को मनुष्य आयु या अन्य गति आयु में नही बदला जा सकता।

संक्रमण की क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ बढती जाती हैं। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है, उतनी ही उसकी आत्म शक्ति प्रकट होती हैं और उतनी ही उसमे कर्म संक्रमण की क्षमता भी होती है। जो व्यक्ति जितना अधिक अपवित्र होता है, उसमे कर्म संक्रमण की क्षमता उतनी ही क्षीण होती है और वह अधिक मात्रा में कर्मो (परिस्थितियों) का दास होता हैं।पवित्र आत्माएँ परिस्थितियों की दास न होकर उनकी स्वामी बन जाती हैं। इस प्रकार संक्रमण की प्रक्रिया आत्मा के स्वातन्त्र्य और दासता को व्यक्ति की नैतिक प्रगति का आधार बनाती हैं। इसके अतिरिक्त संक्रमण की धारणा मनुष्य को भाग्यवाद के स्थान पर पुरूषार्थ की ओर अग्रसर करती है।

8) उपशमन :– कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उनके फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए रोक देना या उन्हें काल–विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना देना उपशमन है। उपशमन में काल की सत्ता नष्ट नहीं होती है, मात्र उसे काल विशेष तक के लिए फल देने में अक्षम बना दिया जाता है।

9) निधत्ति :– कर्मों की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है जिसमें उदीरणा और संक्रमण संभव नहीं किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना संभव हैं।

10) निकाचना :– कर्मों का बंधन इतना प्रगाढ़ होना कि इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नही, निकाचना कहलाता हैं। जिन कर्मो का जिस रूप में बंध हुआ हैं, उनका उसी रूप में अनिवार्यतः फल भोगना पड़ता है।

उपरोक्त के अनुसार निकाचित कर्म नियतता के नियम से बंधे है और अन्य कर्म जो अनिकाचित हैं वे अनियत है और तदनुसार विपाक कर सकते हैं। कर्मों के हेतु कषाय की तीव्रता और मन्दता के आधार पर ही कर्म क्रमशः नियत–विपाकी एवं

अनियत विपाकी होते हैं। तीव्र कषाय से नियति–विपाकी कर्म और मन्द कषाय से अनियत कर्मों का बंध होता हैं। आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुंचे व्यक्ति में ही अनियत –विपाक की क्षमता होती हैं और वह भी केवल उन कर्मों की जिनका बंध निकाचित कर्म के रूप में नहीं हुआ है।

1.8 अष्ट कर्म

जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं।

1.	ज्ञानावरण	5.	आयु
2.	दर्शनावरण	6.	नाम
3.	वेदनीय	7.	गोत्र
4.	मोहनीय	8.	अन्तराय

इनमें से चार घाती कर्म हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय तथा चार अघाती कर्म हैं – वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र। जो कर्म आत्मा में बंधकर उसके स्वरूप का या उसके स्वभाविक गुणों का घात करते हैं वे घाती कर्म हैं। इनकी अनुभाग शक्ति का सीधा असर आत्मा के ज्ञान आदि गुणों पर होता हैं। इनसे गुण विकास अवरूद्ध होता हैं। घाती कर्म आत्मा का मुख्य गुण (1) अनन्त ज्ञान (2) अनन्त दर्शन, (3) अनन्त सुःख और (4) अनन्त वीर्य को प्रकट नहीं होने देते।

जो कर्म आत्मा के निजगुण का घात नहीं कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करता हैं, वह अघाती कर्म हैं। अघाती कर्मों का सीधा संबंध पौद्‌गलिक द्रव्यों से होता हैं, इनकी अनुभाग शक्ति जीव के गुणों पर सीधा असर नहीं करती। अघाती कर्मो के उदय से आत्मा को शरीर के कारागृह में बद्ध रहना पड़ता हैं। ये कर्म जीव के गुण (1) अव्याबाध सुख (2) अटल अवगाहन (3) अमूर्तिकत्व और (4) अगुरूलघुभाव को प्रकट नहीं होने देते। वैदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को, आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना–शाश्वत स्थिरता को, नाम कर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को, और गौत्र कर्म आत्मा के अगुरूलघु भाव को आवृत किए रहता हैं। जब घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा केवलज्ञान, केवल दर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

1. ज्ञानावरण कम

जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण हैं। उपयोग शब्द ज्ञान और

दर्शन का संग्राहक है। ज्ञान साकार उपयोग है और दर्शन निराकार उपयोग है। जिससे जाति, गुण, क्रिया आदि विशेष कर्मों का बोध होता हैं वह ज्ञान उपयोग है और जिससे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता हैं वह दर्शन उपयोग है। ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों को सम्यक्तया जानने की ज्ञान–शक्ति आच्छादित हो जाती है। ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियां हैं । (1) मतिज्ञानावरण, (2) श्रुतज्ञानावरण, (3) अवधि ज्ञानावरण (4) मनः पर्यायज्ञानावरण, (5) केवल ज्ञानावरण। ये उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं। यहाँ प्रथम चार उत्तर प्रकृतियां देशघाती हैं और केवलज्ञानावरण सर्वघाती हैं। ज्ञानावरण कर्म की स्थिति अधिकतम तीस सागरोपम (तीन हजार वर्ष) और न्यूनतम अन्तर्मुहुर्त की है।

2. दर्शनावरण कर्म

पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किए बिना केवल उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शन उपयोग हैं। जिस कर्म के प्रभाव से दर्शनउपयोग आच्छादित रहता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञान उपलब्धि का द्वार बन्द हो जाता है। वस्तुओं के सामान्य बोध का रास्ता रूक जाता है। दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं:–

(1) चक्षुदर्शनावरण – नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है।

(2) अचक्षुदर्शनावरण – चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है।

(3) अवधि दर्शनावरण– इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का जो सामान्य बोध होता हैं उसे आवृत करता है।

(4) केवलदर्शनावरण– सर्व द्रव्य और पर्यायों को युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को आवृत करता है।

(5) निद्रा–इस कर्म से सुप्त प्राणी सुख से जाग सके, ऐसी हल्की निद्रा उत्पन्न हो।

(6) निद्रानिद्रा – इस कर्म से ऐसी नींद उत्पन्न होती हैं जिससे सुप्त प्राणी कठिनाई से जाग सके।

(7) प्रचला–इस कर्म से ऐसी नींद उत्पन्न होती है कि खड़े–खड़े और बैठे–बैठे भी नींद आये।

(8) प्रचला–प्रचला– इस कर्म से चलते–फिरते भी नींद आती है।

(9) सत्यानद्धि – जिस कर्म से दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्य विशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करे वैसी प्रगाढ़ नींद आये।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप में दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण देशघाती हैं और शेष छह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। दर्शनावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस सागरोपम और न्यूनतम स्थिति अन्तमुहुर्त की हैं।

3. वेदनीय कम

आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत करने वाला कर्म वेदनीय है। वेदनीय कर्म से आत्मा को सुख–दुख का अनुभव होता है। उसके दो भेद हैं– (1) साता वेदनीय जिससे भौतिक सुखों की उपलब्धि होती हैं और (2) असातावेदनीय जिससे मानसिक और शारीरिक दुःख प्राप्त होते हैं। दोनों सातावेदनीय और असातावेदनीय की आठ–आठ उत्तर कर्म प्रकृतियां हैं। वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त हैं।

4. मोहनीय कम

जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मो में यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। यह आत्मा के वीतराग भाव–शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष और विकारों से ग्रस्त होता है। यह कर्म स्व–पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा उपस्थित करता है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है।

(1) दर्शन मोहनीय – यह आत्मा के विवेक को आवृत करता है। वह अनात्मीय पदार्थ को आत्मीय समझता है। वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझता है। दर्शन मोहनीय कर्म के तीन प्रकार हैं :

(क) सम्यकत्व मोहनीय – जो सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नहीं रोकता किन्तु उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न करता है।

(ख) मिथ्यात्वमोहनीय – जो कर्म तत्व में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है।

(ग) मिश्रमोहनीय – जो कर्म तत्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है। इनमें मिथ्यात्वमोहनीय सर्वघाती है, सम्यक्मोहनीय देशघाती है और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वघाती है।

(2) चारित्र मोहनीय – यह कर्म आत्मा के चारित्र गुण को उत्पन्न नहीं होने देता। चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं।

(क) कषाय मोहनीय – जिससे संसार की अभिवृद्धि हो वह कषाय हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में चार प्रकार के कषाय हैं। हर कषाय के चार भेद हैं और

इस प्रकार कुल सोलह प्रकार के कषाय बताये गये हैं। इन सोलह में 12 सर्वघाती और चार देशघाती हैं।

(ख) नोकषाय मोहनीय– जो कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे नोकषाय (या अकषाय) हैं। नोकषाय के नौ भेद हैं – हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरूषवेद और नपुसंक वेद। नोकषाय देशघाती हैं।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त की हैं।

5. आयुष् कम

जीवों के जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष् कर्म है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता हैं और क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त होता हैं। आयुष् कर्म की चार उत्तर प्रकृतियाँ हैं– नरकायु तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। आयु दो रूपो में उपलब्ध होती हैं अपवर्तनीय और अनपर्वतनीय। बाह्म निमितों से आयु का कम होना अपवर्तन है। किसी भी कारण से आयु कम न होना अनपवर्तन है। मगर आयु कम हो जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि आयु कर्म का कुछ भाग बिन भोगे ही नष्ट हो जाता हैं। इसका अभिप्राय यह हैं कि आयु कर्म के जो प्रदेश धीरे–धीरे बहुत समय में भोगे जाने वाले थे, वे सब अल्पकाल में भोग लिये गये। लोक व्यवहार में इसी को अकाल मृत्यु कहते हैं। यह अपवर्तन केवल कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच में ही होता हैं, देव, नारकी और भोग भूमिज मनुष्य, तिर्यंच और तीर्थकर में नहीं होता।

आयुष् कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त हैं।

6. नाम कर्म

जिस कर्म से जीव में गति आदि के भेद उत्पन्न हों, देहादि की भिन्नता का कारण हो वह नाम कर्म हैं। नाम कर्म के मुख्य दो भेद हैं शुभ और अशुभ। शुभ नाम पुण्य रूप हैं और अशुभ नाम पाप रूप हैं। नाम कर्म की मध्यम रूप से बयालीस उत्तर–प्रकृतियाँ भी होती हैं। प्रज्ञापना और गोम्मटसार में नाम कर्म के तिरानवें भेद बताये गये हैं। नाम कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहुर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरोपम हैं।

7. गोत्र कम

जिस कर्म के उदय से जीव की उत्पति उच्च या नीच, पूज्य या अपूज्य गोत्र–कुल–वंश आदि में हो वह गोत्र कर्म है।

क) उच्च गोत्र कर्म – जिस कर्म के उदय से प्राणी लोक प्रतिष्ठित कुल आदि में जन्म ग्रहण करता है। इस कर्म के आठ भेद हैं।

ख) नीच गोत्र कर्म – जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित एवं असंस्कारी कुल में होता है। इस कर्म के भी आठ भेद हैं। गौत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहुर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरोपम हैं।

8. अन्तराय कम

जिस कर्म के उदय से देने–लेने में तथा एक बार या अनेक बार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने में अवरोध हो वह अन्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर–प्रकृतियां हैं– दान अन्तराय, लाभ अन्तराय, भोग अन्तराय, उपभोग अन्तराय, और वीर्य अन्तराय। अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरोपम की हैं।

कर्मो के प्रदेश – योग क्रिया से आकर्षित होने वाले कर्म प्रदेश नाना प्रकार के कर्मो में विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध हो जाते हैं। आठ कर्मों में आयु कर्म को सबसे कम हिस्सा प्राप्त होता हैं। नाम कर्म को व गौत्र कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता हैं और दोनो का हिस्सा बराबर होता हैं। उससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों को प्राप्त होता हैं और इन तीनों कर्मों का हिस्सा समान होता हैं। उससे अधिक भाग मोहनीय कर्म का होता है। सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तर प्रकृतियों में विभाजन होता है।

1.9 आस्रव

कर्मवर्गणाओ का आत्म प्रदेशों में आना आस्रव है। आस्रव के दो भेद हैं। (1) भावास्रव और (2) द्रव्यास्रव । आत्मा की विकारी भावदशा भावास्रव है और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्यावस्रव है। द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव हैं।

तत्वार्थ सूत्र में आस्रव दो प्रकार का माना गया है। (1) ईर्यापथिक और (2) साम्परायिक। ईर्यापथिक आस्रव में कषायवृति से रहित क्रियाओं से पहले क्षण में आस्रव होता हैं और दूसरे क्षण में वह निर्जरित हो जाता हैं। साम्परायिक आस्रव का आधार निम्न 38 प्रकार की क्रियाएं हैं:–

पाँच अव्रत	हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन, संग्रह
चार कषाय	क्रोध, मान, माया, लोभ

पाँच इंद्रिय विषय पांचों इन्द्रियों का विषय सेवन
चोबीस साम्परायिक क्रियायें

समवायांग, ऋषिभाषित एवं तत्वार्थ सूत्र में पाँच आस्रव द्वार माने गये हैं–
क) मिथ्यात्व – पांच प्रकार के मिथ्यात्व होते हैं।
ख) अविरति – अमर्यादित एवं असंयमित जीवन प्रणाली। इसके पाँच भेद हैं।
ग) प्रमाद – आत्म चेतना का शैथिल्य। इसके पाँच प्रकार हैं।
घ) कषाय – चार प्रकार। तीव्रता और मन्दता के आधार पर, सोलह प्रकार होते हैं।
ड.) योग – तीन प्रकार – मानसिक, वाचिक, शारीरिक क्रियाएँ।

संक्षेप दृष्टि से कर्म बंध के दो कारण हैं कषाय और योग। कर्म की प्रकृति और प्रदेश का बंध योग से होता है तथा स्थिति व अनुभाग का बंध कषाय से होता है। कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिक बंध कहलाता हैं। दसवें गुणस्थान तक दोनों कारण रहते हैं अतः वहाँ तक साम्परायिक बंध होता हैं। वीतराग के योग के निमित से जो गमनागमन आदि क्रियाओं से कर्म बंध होता है वह ईर्यापथिक बंध कहलाता हैं। ईर्यापथिक कर्म की स्थिति केवल दो समय (या एक समय) मानी गई है।

1.10 निर्जरा

आत्मा से कर्म वर्गणाओं का अलग होना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। आत्मा का वह चेतसिक अवस्था रुप हेतु जिसके द्वारा कर्म पुद्गल अपना फल देकर अलग हो जाते है, भाव निर्जरा कहा जाता है। भाव निर्जरा आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है जिसके कारण कर्म परमाणु आत्मा से अलग हो जाते हैं। यही कर्म परमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य निर्जरा कार्य रूप हैं।

सकाम और अकाम निर्जरा

क) कर्म जितनी काल मर्यादा के साथ बंधा है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक (फल) देकर आत्मा से अलग हो जाता है, यह यथाकाल निर्जरा हैं। इसे सविपाक, अकाम और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं।

सविपाक – कर्म अपना विपाक देकर अलग होता है।

अकाम – कर्म अलग करने में व्यक्ति के संकल्प का तत्व नहीं होता।

अनौपक्रमिक– इसमें वैयक्तिक प्रयास का अभाव हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य योनि में अकाम निर्जरा होती है। यह प्रक्रिया जन्म जन्मान्तरों तक चलती रहती है।

ख) तपस्या के माध्यम से कर्मो को फल देने के समय से पूर्व अर्थात् उनकी कालस्थिति परिपक्व होने के पहले ही प्रदेशोदय के द्वारा भोग कर बलात् अलग कर दिया जाता हैं, तो यह निर्जरा सकाम निर्जरा कही जाती है। इसे अविपाक, सकाम और औपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं।

अविपाक – क्योंकि विपाकोदय का फल नहीं होता है।

सकाम – क्योंकि इसमें कर्म परमाणुओं को आत्मा से अलग करने का संकल्प होता हैं।

औपक्रमिक – क्योंकि इसमें उपक्रम का प्रयास होता है।

सकाम निर्जरा में जीव स्वयं के विशेष प्रयत्न और पुरूषार्थ से बद्ध कर्म की निर्जरा कर देता है। यह निर्जरा मनुष्य योनि में ही संभव हैं। मनुष्य योनि में जीव के मानसिक विकास से विवेक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह शुभ–अशुभ और योग्य–अयोग्य का निर्धारण कर सकता हैं। विवेक ज्ञान से जीव को जीवन लक्ष्य का भान हो जाता हैं, और वह शुभ योग में प्रवृत होने लगता है।

सकाम निर्जरा का पूर्व चरण हैं संवर, नये कर्म बंध को रोकना। विवेक ज्ञान से यदि जीव अपनी प्रवृतियो को कषाय एवं रागादि तथा आसक्ति रहित कर लेता है तो नवीन कर्म बंध नहीं होते हैं। जीव जब पूर्व कर्मों के फल को भोगता है तो जो भी दुःख–सुख या अच्छे बुरे का अनुभव होता है उसमें सम भाव रखे, समता रखे और प्रतिक्रिया न करे तो कषायों को रोका जा सकता है। संयम और मन पर नियंत्रण से यह संभव होता है।

शुभ योग से जीव के भाव विशुद्धि होती है। इसमें मनुष्य को अपने आचार विचार में पवित्रता का समावेश करना होता है और अपना ध्यान बाह्य जगत से हटाकर अन्तर्जगत पर केन्द्रित करना होता है। प्रेम, दान, तप, स्वाध्याय, संयम, सेवा, व्रत पूजा, उपासना, प्रायश्चित, प्रतिक्रमण, धर्म ध्यान आदि को अपने व्यवहार में स्थान देना होता हैं। मनुष्य की जब कामनाएँ, आकांक्षाएं सीमित हो जाती हैं, उसकी भाव संवेदनाएँ जाग जाती हैं, स्व की अपेक्षा पर की पीड़ा को अधिक अनुभव करता है, स्वहित की अपेक्षा परहित को अधिक महत्व देने लगता है तो समझना चाहिए कि उसकी भावनाओं में कलुषिता की कमी हुई है। ऐसे में जीव शांति और आत्मसुख का अनुभव करता है और उसकी भाव चंचलता कम हो जाती है। जब यह परिवर्तन स्थायी हो जाता हैं तो उसके अशुभ भाव–कर्म में हानि हो जाती हैं और शुभ भाव कर्म में वृद्धि होती है। तब सभी प्रकार के कषायों का अभाव हो जाता है और नये कर्मो का बंध नही होता है।

1.11 कार्मण शरीर

शरीर पाँच प्रकार के होते हैं – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला स्थूल शरीर औदारिक शरीर है। जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थो को ग्रहण करता है वह आहारक शरीर है। तैजस शरीर विद्युत शरीर है और कार्मण शरीर कर्म परमाणुओं से बना है। पुद्गल कर्म कार्मण शरीर में स्थित होते हैं। वैक्रियिक शरीर अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों से युक्त होता है। यह शरीर देवों और नारकियों के होता है। सामान्यतया एक समय में मनुष्य के तीन शरीर होते हैं, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर। विशेष अवस्था में ऋद्धि प्राप्त योगियों के वैक्रियिक और आहारक शरीर भी हो सकते हैं। मृत्यु होने की दशा में स्थूल शरीर छूट जाता हैं और तैजस तथा कार्मण शरीर आत्मा के साथ संलग्न रहते हैं तथा नई पर्याय में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार तैजस और कार्मण शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ हैं और जब तक सभी कर्मों का क्षय नहीं हो जाता वे जन्म–जन्मान्तरों तक आत्मा के साथ बने रहेंगें।

कर्म शरीर संस्कारों का वाहक हैं। जन्म–जन्मान्तरों की संस्कार–परम्परा इसके साथ जुड़ी हुई होती हैं। व्यक्ति का चरित्र, ज्ञान, व्यवहार, व्यक्तित्व, कर्त्तव्य, इन सबके बीज कर्म शरीर में सन्निहित हैं।

तैजस शरीर के मुख्यतया दो कार्य हैं (1) शरीर तंत्र का संचालन और (2) अनुग्रह–निग्रह की क्षमता। हमारी जीवनीशक्ति का आधार प्राणतत्व, तैजस शरीर से ही प्रवाहित होता हैं। योग आचार्य इसे प्राणमय कोश तथा वैज्ञानिक "वाईटल बॉडी" या बायो– इलेक्ट्रिकल प्लाज्मा कहते हैं। यह विद्युतीय शरीर हैं और ऊर्जा का अपार भंडार है। मनुष्य शरीर की प्रत्येक कोशिका में स्वतंत्र ऊर्जा स्रोत है जहाँ विद्युत ऊर्जा उत्पन्न होती है। उसी से पूरा शरीर तंत्र सक्रिय रहता है। सूर्य तथा ब्रम्हाण्ड की सूक्ष्म तरंगों से भी निरन्तर ऊर्जा मिलती रहती है। उससे भी तैजस शरीर पुष्ट होता है।

मृत्यु और नये जन्म के बीच का समय अन्तराल–काल कहलाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है। अन्तराल–काल में आत्मा जिस गति में गमन करता है उस गति का नाम "अन्तराल–गति" है। इस अन्तराल–गति में जीव के स्थूल इंन्द्रियाँ नहीं होती हैं परन्तु ज्ञानेन्द्रियां होती हैं जिससे उसे स्व–संवेदन का अनुभव होता है।

किरलियन फोटोग्राफी द्वारा मरते हुए आदमी का फोटो लिया गया, तो ऐसा लगा कि इस शरीर जैसी आकृति शरीर से बाहर आ रही है। यह सूक्ष्म शरीर है।

परमाणु स्कंध दो प्रकार के होते हैं – चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी। अष्टस्पर्शी परमाणु स्कधों में भार होता हैं, विद्युत–आवेश होता हैं, प्रस्फुटन होता हैं और स्थूल अवगाहन होता हैं। चतुःस्पर्शी पुद्गल स्कंधों में भार नहीं होता। उनमे विद्युत आवेश नहीं होता। उनकी गति अप्रतिहत होती है, अस्खलित होती है। वे दीवार के पार जा सकते हैं। सूक्ष्मतम शरीर इन्ही परमाणुओं से बना हुआ होता है।

परामनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि सूक्ष्म शरीर न्युट्रिलोन कणों से निर्मित है। न्युट्रिलोन कणों में भी भार, विद्युत आवेश और प्रस्फुटन नही होता। विज्ञान उन कणों को अभौतिक मानता है। पर जैनदर्शन सम्मत सूक्ष्म शरीर भौतिक है, पौद्गलिक है।

1.12 समीक्षा

व्यक्ति अपने किए कर्म का प्रतिफल स्वयं भोगता है कोई अन्य इस फल को नही भोग सकता। कर्म बंधन से आत्मा या पुद्गल कर्म वर्गणा के उपादान नही बदलते, उनके व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है। कर्म परमाणुओं में कुछ चैतन्य गुण आ जाता हैं और आत्मा अमूर्त से मूर्त सा बन जाता है। सभी आत्म प्रदेशों में एक साथ और एक समान कर्म बंध होता है। प्रकृति भेद से कर्म असंख्य प्रकार के हो सकते हैं। प्रदेश बंध और प्रकृति बंध का नियामक योग है और स्थिति बंध और अनुभाग बंध का नियामक कषाय है। कर्म का उदय स्वतः भी होता है और प्रयत्नपूर्वक भी होता है। कर्म के उदय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव निमित्त कारण बन सकते हैं। संक्रमण आदि सिद्धान्तों के अनुसार पुरुषार्थ से कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग गुणों में परिवर्तन संभव है। मूल रुप से कर्म आठ प्रकार के हैं परन्तु सूक्ष्म भेद के आधार पर अनेक प्रकार के हो सकते हैं। आत्मा के विकार आस्रव के कारण हैं। आत्मा के भाव विशुद्ध होने पर कर्म की निर्जरा होती है। जीवित अवस्था में जीवात्मा के तीन शरीर – औदारिक, तैजस और कार्मण होते हैं। अन्तराल गति में कार्मण और तैजस शरीर होते हैं। ये दोनों शरीर मुक्ति पर्यन्त हमेशा आत्मा के साथ जन्म–जन्मान्तरों में बने रहते हैं।

अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म वर्गणाओं का बंध किस प्रकार होता है? एक ही प्रकार की कर्म वर्गणा से अनेक प्रकार के कर्म कैसे बंधते है? संक्रमण आदि कर्म अवस्थाओं में परिवर्तन कैसे होता है? निर्जरा कैसे होती है? इन प्रश्नों की वैज्ञानिक व्याख्या पर अध्याय दश में विचार किया गया है।

1.13 संदर्भ

1. जैन दर्शन स्वरुप और विश्लेषण – देवेन्द्र मुनि शास्त्री
2. कर्मवाद – आचार्य महाप्रज्ञ
3. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन – डा. सागरमल जैन
4. कर्म सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन – आचार्य कनकनंदी
5. योग दर्शन (महर्षि पतंजलिकृत) – हरिकृष्णदास गोयन्दका
6. श्री मेहेर बाबा की अखंड ज्योति – मेहेर पब्लिकेशन, अहमदनगर

अध्याय 2

आत्मा का स्वरूप और आत्म-विकास

2.1 आत्मा का स्वरूप

सभी भारतीय दार्शनिकों और चिन्तकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। परन्तु आत्मा के स्वरूप के बारे में मतैक्य नहीं है। वैदिक परम्परा में आत्मा के सम्बन्ध में जिन विविध विचारों का विकास हुआ उसका संकलन उपनिषद् साहित्य में हुआ है। शरीर और आत्मा ये दोनों अलग–अलग तत्त्व हैं। प्रश्नोपनिशद् का अभिमत है कि प्राण का जन्म आत्मा से होता है। जैसे मानव की छाया का आधार स्वयं मानव है वैसे ही प्राण आत्मा पर अवलम्बित है। आत्मा और प्राण ये दोनों भी पृथक्–पृथक् हैं। केनोपनिषद्कार का मन्तव्य है कि आत्मा इन्द्रिय और मन से भिन्न है। इन्द्रियाँ और मन आत्मा के अभाव में कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं।

कौशीतकी उपनिषद् में समस्त इन्द्रियों और मन को प्रज्ञा में प्रतिष्ठित किया गया। जब मानव सुप्त या मृतावस्था में होता है उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो जाती हैं अतः इसे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। जब मानव नींद से जागता है या फिर से जन्म लेता है तब प्रज्ञा से इन्द्रियाँ बाहर आती हैं और मानव को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अंश के सदृश हैं, अतः प्रज्ञा के अभाव में वह कार्य नहीं कर सकती।

कठोपनिषद् में मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त–प्रकृति और प्रकृति से पुरूष को उत्तरोत्तर उच्च माना गया। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का ही धर्म नहीं है अपितु अचेतन प्रकृति का भी धर्म है। इस मत को देखते हुए आत्मा पूर्णतः चेतन स्वरूप है।

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म और आत्मा ये दोनों अलग–अलग तत्व नहीं हैं किन्तु एक ही तत्व के पृथक्–पृथक् नाम हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार विज्ञानात्मा स्वतः प्रकाशित नहीं है, वह सुप्तावस्था में अचेतन हो जाता है। किन्तु चेतन आत्मा स्वयं–प्रकाशी है, वह विज्ञान को भी जानने वाला है। वह साक्षात् है, अपरोक्ष है, वही प्राण को ग्रहण करने वाला है, वही आँख से देखने वाला है, वही कान से सुनने वाला है, वही मन से विचार करने वाला है, वही ज्ञान को जानने वाला है। वही दृष्टा है, श्रोता है, मनन करने वाला है, वही विज्ञाता है। वह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्व प्रकाश रूप है, चिन्मात्र ज्योति स्वरूप है।

आत्मा की अति संक्षिप्त वैदिक धारणा के बाद अब जैन मत में जीव के

स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् पार्श्व, जो ईसवी पूर्व आठवीं शती में हुए हैं, उस समय तक जैन परम्परा में जीववाद की कल्पना सुस्थिर हो गई थी। जैन परम्परा में जीव और आत्मवाद की मान्यता जैसी भगवान पार्श्वनाथ के समय थी वैसी आज भी है। उसमें किंचित मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है किन्तु बौद्ध और वैदिक परम्परा में समय–समय पर परिवर्तन होता रहा है। जैन परम्परा के अनुसार जीव के बारे में निम्न मुख्य तथ्य ज्ञातव्य हैं।

1. जीव अनादि–निधन है, न उसका आदि है और न अन्त ही है। वह अविनाशी है, अक्षय है। द्रव्य–दृष्टि से उसका स्वरूप तीनों कालों में एक–सा रहता है इसलिए वह नित्य है और पर्याय दृष्टि से वह भिन्न–भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है, अतः अनित्य है।

2. संसारी जीव – तिल और तेल की तरह जीव और शरीर एक प्रतीत होते हैं परन्तु जीव और शरीर अलग हैं।

3. शरीर के अनुसार जीव का संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के विराट्काय शरीर में होता है वही जीव चींटी के नन्हें शरीर में उत्पन्न हो सकता है। संकोच और विस्तार दोनों ही अवस्थाओं में उसकी प्रदेश संख्या न्यूनाधिक नहीं होती, समान ही रहती है।

4. जीव अमूर्त है और वह विज्ञान गुण से जाना जाता है।

5. जीव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का आधार है।

6. जीव अनेकानेक शक्तियों का पुञ्ज है उसमें मुख्य शक्तियाँ ये हैं – ज्ञान–शक्ति, वीर्य–शक्ति, संकल्प–शक्ति।

7. जीव के दिखलाई नहीं देने पर भी उसका ग्रहण ज्ञान गुण के द्वारा होता है। शरीर में रहे हुए जीव को हास्य, नृत्य, सुख–दुःख, बोलना–चालना आदि विविध चेष्टाओं से जाना जाता है।

8. जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म–योग्य पुद्गल स्वतः ही कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं।

9. जीव जिस प्रकार का विचार और व्यवहार करता है वैसा ही संस्कार उसमें गिरता है और उस संस्कार को धारण करने वाला एक सूक्ष्म पोद्गलिक शरीर भी उसके साथ निर्मित होता है, जो देहान्तर धारण करते समय भी साथ ही रहता है।

10. जीव और कर्म का संयोग अनादि है। संवर–तपस्या आदि द्वारा जीव कर्मों से पृथक हो जाता है। जीव और कर्म की परम्परा में पौर्वापर्य नहीं है, दोनों अनादि काल से साथ–साथ हैं।

11. जीव अमूर्त है, तथापि अपने द्वारा संचित मूर्त शरीर के योग से जब तक शरीर का अस्तित्व रहता है, तब तक मूर्त–जैसा बन जाता है।

12. सम्पूर्ण जीवराशि में सहज योग्यता एक सदृश है, तथापि प्रत्येक का विकास एक सदृश नहीं होता। वह उसके पुरूषार्थ एवं अन्य निमित्तों के बलाबल पर अवलम्बित है।

13. लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ पर सूक्ष्म या स्थूल–शरीर जीवों का अस्तित्व न हो।

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव इन चारों की प्रदेश संख्या समान है किन्तु अवगाहन की दृष्टि से समान नहीं है। धर्म, अधर्म और लोकाकाश के परिमाण में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीव का परिमाण सदा सर्वदा समान नहीं रहता। उसमें संकोच और विस्तार होता रहता है। तथापि अणु के समान संकुचित और केवली समुद्घात को छोड़कर लोकाकाश जितना विकसित नहीं होता, एतदर्थ ही जीव को मध्यम परिमाण वाला कहा है। संकोच और विस्तार संसार अवस्था में जीव का स्वयं का स्वभाव नहीं है। किन्तु वह कार्मण शरीर के कारण होता है। कर्मयुक्त अवस्था में जीव शरीर की मर्यादा में आबद्ध होता है, एतदर्थ उसका जो परिमाण है वह स्वतंत्र उसका अपना नहीं है। कार्मण शरीर का छोटापन या बड़ापन चारों गति की अपेक्षा से है। मुक्त दशा में वह नहीं होता। आत्मा के जो असंख्य प्रदेश बताये गये हैं वह केवल आत्मा का परिमाण जानने के लिए हैं। वह आरोपित है, वास्तविक नहीं। वास्तव में आत्मा अखण्ड द्रव्य रूप है। उसमें कभी भी संघात–विघात नहीं होता।

निश्चय–दृष्टि से जीव का लक्षण चेतना है। सभी प्राणियों में सत्ता के रूप में चैतन्य शक्ति अनन्त है। किन्तु उसका विकास सभी जीवों में समान नहीं होता। ज्ञान के आवरण की अधिकता या न्यूनता के अनुसार उसका विकास कम–ज्यादा होता है। अतः जीव और अजीव का भेद बताते हुए कहा है – केवल ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो सभी जीवों में विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाये तो जीव अजीव हो जाए, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। यह गुण आत्मा के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में नहीं है, अतएव आत्मा को एक स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण–अर्थ–क्रिया कारित्व और सत् दोनों घटते हैं। आत्मा का ज्ञान–प्रवाह निरन्तर प्रवाहित है। वह उत्पाद–व्यय युक्त होने पर भी ध्रुव है।

मुक्त अवस्था को प्राप्त आत्मा स्व–स्वरूप को प्राप्त कर लेने से परमात्मा

बन जाता है। आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है। सभी मुक्त आत्मा पृथक्–पृथक् अस्तित्व रखती हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्त के समान एकरूप नहीं होते। ज्ञान और दर्शन रूप चेतना का, जो जीव का स्वभाव है, अभाव नहीं होता। कर्म का पूर्ण अभाव हो जाने से तज्जन्य शरीर, जरा, व्याधि, रूप, दुःख, वृद्धि–ह्रास आदि कुछ भी नहीं रहता, वे सभी कर्मों के सम्पर्क से होते हैं। अतएव मुक्तात्मा को सत्–चित्त–आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊँचे लोक के चरम भाग में होता है। मुक्त जीव अशरीरी होते हैं। उनमें कम्पन्न नहीं होता, अकम्पित दशा में ही जीव की मुक्ति होती है और वे हमेशा उसी स्थिति में रहते हैं। मुक्त अवस्था में अलौकिक आत्मिक सुख की अनुभूति होती है।

मुक्त आत्माओं से संसारी आत्मा संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त गुनी अधिक है। मुक्त आत्माओं में कर्मरहित होने से किसी प्रकार का भेद नहीं है। सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकल कर्मों के बन्धन से रहित है। मुक्त आत्मा की सर्वतन्त्र स्वतंत्र सत्ता है। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव व विभिन्न अवयवों का संघात नहीं है। मुक्त जीवों के विकास की स्थिति में भेद नहीं होता । आत्मा अपने आप में पूर्ण है अतः उसे अन्य किसी दूसरे पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं। मुक्त आत्मा का पुनरावर्तन नहीं होता।

2.2 योग

जैन परम्परा में योग शब्द वैदिक परम्परा से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैनागम में मन, वचन और कायिक प्रवृत्ति को योग कहा है। आत्मा में रही हुई शक्ति (वीर्य) तो एक ही है पर उसका उपयोग करने के साधन तीन हैं – मन, वचन और काया। इनके आलम्बनरूप योग के भी तीन प्रकार हैं।

1. काय योग – काया के आलंबन से आत्मशक्ति का उपयोग। इसके सात उपभेद हैं : औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काय योग, वैक्रियिक काय योग, वैक्रियिक मिश्र काय योग, आहार काय योग, आहारक मिश्र काय योग, कार्मण काय योग।
2. वचन योग – वचन के आलंबन से आत्मशक्ति का उपयोग। इसके चार उपभेद हैं : सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।
3. मनोयोग – मन के आलंबन से आत्मशक्ति का उपयोग। इसके भी चार उपभेद हैं : सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

इनमें मनोयोग या मानसिक प्रवृत्ति तीनों का केन्द्र है। क्योंकि कर्म का बन्ध वचन और काया की प्रवृत्ति से नहीं होता बल्कि परिणामों (भावों) से होता है जो मानसिक प्रवृत्ति का प्रतिफल है।

आत्मा में अनन्त वीर्य है जिसे लब्धि–वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है, इसका बाह्य जगत में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा और शरीर के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होती है, उसे करण–वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहते हैं। शरीर–धारी जीव में यह सत्ता बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्य–प्रेरित क्रियात्मक कम्पन्न होता है। यह कम्पन्न अचेतन वस्तुओं में होने वाले कम्पन्न से भिन्न है। चेतना में कम्पन्न का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है जिसके द्वारा एक विशेष स्थिति का निर्माण होता है। क्रियात्मक शक्ति जनित कम्पन्न के द्वारा आत्मा और कर्म–परमाणुओं का संयोग होता है, जिसे आस्रव कहा जाता है। शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्त्र बने रहते हैं। दोनों एक साथ तो नहीं, दोनों में एक एक अवश्य रहता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म–परमाणुओं का आकर्षण होता है।

पुद्गलों को आकृष्ट करना, उनसे सम्बद्ध होना आत्मा की योग्यता है। ऐसा न हो तो आत्मा और पुद्गल का संयोग घटित नहीं होता। आत्मा अनादि है अतः यह योग्यता तथा संयोग भी अनादि है। कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुरूप परिणत होने की योग्यता है, इसी कारण आत्मा का कर्मों पर कर्तृत्व घटित होता है।

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता तथा वृतिसंक्षय – ये योग हैं। क्योंकि ये आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं। ये पाँचों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ–उत्कृष्ट हैं। अर्थात् अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता तथा समता से वृतिसंक्षय – क्रमशः एक–एक से उच्चतर यौगिक विकास के सूचक हैं।

आत्मा का कर्म के साथ भिन्न–भिन्न प्रकार से संयोग होता है। अतएव उसके भिन्न रूप देखने में आते हैं। इस भिन्नता का कारण जीव के अपने स्वभाव या प्रकृति को छोड़कर और दूसरा नहीं है। वास्तव में यही यथार्थ कारण है, ऐसा मानना चाहिए।

उपयोग – उपयोग शब्द आत्मा के ज्ञान–दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस उपयोग के साथ आत्मा के अन्य लक्षण भी आगम में बताये गये हैं। ये आठ प्रकार के हैं – (1) अनंत ज्ञान (2) अनंत दर्शन (3) अनन्त चरित्र (यथाख्यात स्वरूप), (4) अनंत वीर्य (शक्ति), (5) अनामी (अरूपीपना), (6) अगुरूलघुत्व, (7) अनंत सुख (अव्याबाध सुख) और (8) अक्षय स्थिति। आत्मा के ये गुण कार्मण वर्गणा से ढ़क गये हैं अतः जीव द्वारा अनुभव नहीं किए जाते हैं। जीव द्वारा आत्म–विकास की प्रक्रिया अपनाने पर ही कार्मण वर्गणा के ये आवरण हटाये जा सकते हैं और तब आत्मा की शुद्ध अवस्था प्रकट होती है।

2.3 आत्म-विकास

कार्मण वर्गणा से आवृत्त आत्मा अपने आपको अपूर्ण अनुभव करती है। पूर्णता शुद्ध आत्मा का स्वभाव है और जीवात्मा उसी स्थिति को प्राप्त करना चाहती है। पूर्णता प्राप्ति की यह प्रक्रिया आत्म विकास की प्रक्रिया है जिसमें कार्मण वर्गणा के आवरण का क्षय होता है। विकास क्रम में जीव सर्वप्रथम ज्ञान के लिए आवश्यक इन्द्रियों का विकास करता है। प्राणी जगत में दो राशियाँ हैं – व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि। अव्यवहार राशि वनस्पति जगत का वह खजाना है जो कभी समाप्त नहीं होता। इसमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं। इस दृश्य जगत में जितने भी जीव हैं वे सब अव्यवहार राशि से निकलकर आते हैं। अव्यवहार राशि में चेतना पर इतना घना आवरण है कि ज्ञान की शक्ति बहुत आवृत हो गई, केवल जीव का एक अंश बचा जिससे कि जीव का अस्तित्व सुरक्षित रह सके। कर्म के आकार के अनुसार ही जीव का संवादी स्थूल शरीर बनता है और विकास क्रम में वह एक इन्द्रिय वाला जीव बन गया। एकेन्द्रिय जीव होने का मतलब है न्यूनतम चेतना का विकास। केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही विकसित, शेष सारी इन्द्रियाँ उपलब्ध ही नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसे हम एकेन्द्रिय कहते हैं, वह जीव एक ही इन्द्रिय वाला है। उसमें इन्द्रियों का बोध तो होता है पर उनका आकार नहीं बनता। आकार इसलिए नहीं बनता कि इन्द्रियों के पूरे विकास की क्षमता इस जीव के सूक्ष्म शरीर में नहीं है। सूक्ष्म शरीर में जब इन्द्रिय–विकास की पूरी क्षमता नहीं है, पूरा विकास नहीं है, तो स्थूल शरीर उसका संवादी नहीं होता, उसमें उसके आकार नहीं बनते। आकार के बिना इन्द्रिय–बोध भी स्पष्ट नहीं होता। एकेन्द्रिय जीव में भी पाँचों इन्द्रियों का अस्पष्ट बोध होता है, परन्तु इन्द्रियों के स्थान विकसित नहीं होते इसलिए स्पष्ट ज्ञान का अभाव रहता है।

यह एक श्रंखला है, भावचित्त का संवादी होता है पौद्‌गलिक चित्त और पौद्‌गलिक चित्त का संवादी होता है स्थूल शरीर। स्थूल शरीर, और भाव शरीर (कर्म शरीर) में परस्पर संवादिता है। एक के जैसा दूसरा और दूसरे के जैसा तीसरा हो जाता है।

जीव अनेकानेक एकेन्द्रिय योनियों में भ्रमण करता है। काल लब्धि के कारण जीव के कार्मण वर्गणा के आवरण में कमी होती जाती है और उसके सूक्ष्म शरीर में दो इन्द्रियों के विकास की क्षमता आ जाती है। वह दो इन्द्रिय वाला स्थूल शरीर धारण कर सकता है। इस प्रकार विकास का क्रम चलता रहता है और जीव क्रमशः द्विइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय शरीर धारण करने की क्षमता

प्राप्त करता है। पंचेन्द्रिय शरीर के विकास क्रम में जीव की क्षमता में इतनी वृद्धि हो जाती है कि उसको एक नई क्षमता मन के रूप में प्राप्त हो जाती है। ऐसे जीवों को संज्ञी पंचेन्द्रिय कहा गया है। प्राथमिक अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तिर्यंच रूप में होते हैं और उत्तरोत्तर विकास के साथ जीव को श्रेष्ठतम योनि मनुष्य रूप में प्राप्त होती है। यह जीव का सामान्य विकास क्रम है। मनुष्य योनि प्राप्त होने के बाद भी जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार विभिन्न गतियों में भ्रमण करता है। अपने कर्मों के अनुसार जीव को तिर्यंच, मनुष्य, नारकीय और देवगति प्राप्त होती है। इनमें नारकी और देवगति भोग योनियाँ हैं जिनमें जीव को कर्म की स्वतंत्रता नहीं होती वह केवल अपने पूर्व कर्मों को भोगता है। मनुष्य योनि में जीव को नये कर्म करने और पूर्व कर्मों को भोगने, दोनों की क्षमता होती है और यही क्षमता उसके तीव्र विकास में सहायक हो सकती है।

अनावृत चेतना व्यक्त होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है – मनरहित ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त–मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल दशा में वह अर्ध व्यक्त भी होता है। अव्यक्त चेतना को अध्यवसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्धव्यक्त चेतना का नाम है – हेतुवादोंपदेशिकी संज्ञा। यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पंचेन्द्रियों जीवों में होती है। गर्भज पंचेन्द्रियों जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। ये त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं।

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्वमान्य दो प्रकृतियाँ हैं – इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी प्रवृत्तियाँ बहुमुखी नहीं होती। मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएँ बनती हैं।

स्मृति, जाति–स्मृति, प्रत्यभिक्षा (पहचान), तर्क, अनुमान – ये सब विशुद्ध ज्ञान की दशाएँ हैं। शेष दशाएँ कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न– ये सब मोह प्रभावित चेतना के चिंतन हैं। भावना, श्रद्धान और ध्यान ये मोह प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं तब असत् और जब मोह–शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं जब सत् बन जाते हैं।

व्यक्ति में दो प्रकार की क्षमताएँ हो सकती हैं – योगात्मक क्षमता यानि लब्धिवीर्य और क्रियात्मक क्षमता यानि करणवीर्य। जिसमें ये दोनों क्षमताएँ हैं वही व्यक्ति कुछ कर पाता है। कर्मष्शास्त्र के इस महत्वपूर्ण बिंदु को समझने के लिए हमें आत्मा और शरीर, मन और शरीर दोनों के योग को ठीक से समझना होगा। मन का

शरीर पर प्रभाव होता है और शरीर का मन पर प्रभाव होता है। आत्मा का शरीर पर और शरीर का आत्मा पर प्रभाव होता है। केवल आत्मा या केवल शरीर से ये सारे कार्य नहीं हो सकते जो हमारे व्यक्तित्व की व्याख्या करने वाले होते हैं। केवल आत्मा से वे ही कार्य निष्पन्न होते हैं जो आत्मा के मूलभूत कार्य हैं जैसे– चैतन्य का पूर्ण विकास, आनन्द और शक्ति का पूर्ण विकास अर्थात् अनन्त चैतन्य, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति की प्राप्ति। किन्तु जहाँ शरीर है और शरीर के द्वारा जो चैतन्य आदि प्रकट हो रहा है वह अखण्ड नहीं होगा। माध्यम के द्वारा जो भी प्रकट होता है वह कभी पूर्ण नहीं होता। चैतन्य की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं – इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम है – अनुभूति। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्मय है– शरीर। इन्द्रियाँ भी शक्ति की अभिव्यक्ति के मार्ग हैं। चैतन्य की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। आनन्द की अभिव्यक्ति भी शक्ति के बिना नहीं हो सकती। शक्ति का माध्यम सबके साथ जुड़ा हुआ है। सभी अभिव्यक्तियों का माध्यम है शरीर। इसलिए मन से शरीर प्रभावित होता है और शरीर से मन प्रभावित होता है। शरीर भी प्रभाव का निमित्त बनता है और मन भी प्रभाव का निमित्त बनता है। किन्तु निमित्त का मूल स्रोत है – कर्म। कुछ मानते हैं कि परिस्थिति के कारण ऐसा होता है। किन्तु उसमें हमें अपवाद भी मिलते हैं। निमित्तों के मिलने पर या परिस्थितियों के होने पर हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं, किन्तु कभी–कभी ऐसा भी होता है कि जब भय–वेदनीय कर्म का प्रबल उदय होता है और वे कर्म–परमाणु इतनी प्रबलता से उदय में आते हैं, शोक या चिन्ता पैदा हो जाती है।

अनेकान्त के सिद्धान्त की स्वीकृति के अनुसार प्रत्येक कार्य के पीछे बाह्य कारण की अनिवार्यता नहीं है। कहीं–कहीं कारण स्वगत भी होता है। कर्मवाद में परिस्थिति का भी स्थान है, निमित्त का भी स्थान है। किन्तु परिस्थिति ही सब कुछ है – ऐसा मानना भ्रामक होगा। यदि परिस्थितिवाद की एकान्ततः स्वीकृति होती है तो उसके चक्र को कभी नही तोड़ा जा सकता। कर्म की स्वीकृति भी एकान्तिक नहीं है। सब कुछ कर्म से ही घटित होता है, यह स्वीकृति उचित नहीं है। सब कुछ कर्म से नहीं होता। कुछ ऐसी स्थितियाँ हैं जो कर्म से प्रभावित नहीं भी होती हैं। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व कर्म से प्रभावित नहीं होता।

एक व्यक्ति अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है। जब अनादिकाल से ऐसा हो रहा है तो वह मिथ्यात्व के चक्र को कैसे तोड़ पायेगा? किन्तु आत्मा में एक ऐसी शक्ति है, जो पूर्णरूपेण कर्म से कभी प्रभावित नहीं होती। कर्म का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य इसलिए स्थापित होता है और तब तक चलता है जब तक कि आत्मा अपनी

शक्ति के प्रति जागृत न हो जाये। काल की भी एक शक्ति है जो कर्म से प्रभावित नहीं होती। एक काल आता है कि उस क्षण में, काल लब्धि के कारण आत्मा सहज रूप में जाग जाती है। उसमें अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का भाव आ जाता है। उस क्षण में मिथ्यात्व का साम्राज्य, मोह का साम्राज्य पहली बार हिल उठता है और धीरे–धीरे उसकी जड़ें टूटने लगती हैं।

उदाहरण के लिए उस घटना को लें जिसमें वनस्पति जीव अक्षयकोश से निकलकर विकासशील जगत में आता है। प्रश्न यह है – क्यों आते हैं? यदि कर्म ही सब कुछ होता है तो अव्यवहार राशि से निकल ही नहीं पाते। किन्तु काल लब्धि, काल की शक्ति के आधार पर वे वहाँ से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं।

व्यवहार–राशि के जीवों की दो श्रेणियाँ हैं – एक कृष्णपक्ष और दूसरी शुक्ल पक्ष। कृष्णपक्ष अनिष्ट कर्मों का सूचक है – अनिष्ट वातावरण और तामसिक वृत्तियों का सूचक है। शुक्लपक्ष हमारे विकास का सूचक है, बंधन मुक्ति की ओर अग्रसर होने का सूचक है। एक प्रश्न उभरता है कि कोई भी जीव कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में क्यों आता है? कैसे आता है? कर्म एक मात्र कारण नहीं है। कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष में आने का हेतु है– काललब्धि। काल की शक्ति से ऐसा होता है। इसी प्रकार स्वभाव की भी एक शक्ति होती है। आध्यात्मिक विकास के बीज प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं। किन्तु कुछ जीव ऐसे होते हैं, जिनमें अध्यात्मिक विकास का स्वभाव ही नहीं होता। इन जीवों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे चैतन्य का विकास नहीं कर पाते। यह स्वभाव शक्ति का उदाहरण है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म का सार्वभौम साम्राज्य नहीं है। कर्म की सार्वभौमिकता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। वस्तुतः हमारी शक्तियों के स्रोत हैं – (1) स्वभाव, (2) परिस्थिति, (3) काल, (4) कर्म और (5) पुरूषार्थ। कर्म का एक छत्र साम्राज्य नहीं है, इसलिए कर्म के व्यूह को तोड़ा जा सकता है । पुरूषार्थ का भी अपना महत्व है। पुरूषार्थ में कर्म को बदल देने की भी शक्ति होती है।

2.4 आवेग

आवेग हमारे आत्मविकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन और अनुभूति में परिवर्तन होता है। कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों मुख्य आवेग हैं। कुछ उप–आवेग हैं जिनकी संख्या सात या नौ हैं। सात उप–आवेग हैं – हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा

और वेद। वेद उपआवेग को स्त्रीवेद, पुरूषवेद और नपुंसकवेद में विभक्त करने पर नौ उप–आवेग होते हैं। इन्हें 'नौ कषाय' भी कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले 'नौ कषाय' हैं। उप–आवेग आवेगों के जैसे तीव्र नहीं हैं।

आवेग की चार स्थितियाँ, अवस्थाएँ होती हैं – (1) तीव्रतम, (2) तीव्रतर, (3) मंद और (4) मंदतर। तीव्रतम आवेग अनन्तानुबंधी, तीव्रतर अप्रत्याखानी, मंद प्रत्याखानी और मंदतर आवेग संज्वलन है। तीव्रतम आवेग में राग–द्वेष की गाँठ इतनी कठोर होती है कि सम्यक दृष्टि प्राप्त नहीं होती, सत्य का सत्य के रूप में स्वीकार करने की तैयारी नहीं होती। अनन्तानुबंधी अवस्था का विलय होते ही दृष्टिकोण सम्यक हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पहली भूमिका है। कर्मशास्त्र की भाषा में इस भूमिका को सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् हो जाती है। सत्य उपलब्ध हो जाता है।

आवेग की दूसरी अवस्था में आध्यात्मिक चेतना के विकास की प्यास नहीं बुझती। चेतना ऐसी बन जाती है कि व्यक्ति जानते हुए भी कर नहीं पाता। इस आवेग का नाम है अप्रत्याखान। जैसे ही आवेगों की दूसरी अवस्था उपशान्त या क्षीण होती है, जब व्यक्ति की उस रास्ते पर चलने की भावना निर्मित होती है। तब मन में भावना होती है कि विरति का, त्याग का रास्ता अच्छा है, इस पर चलना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में देशविरति गुणस्थान उपलब्ध हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पाँचवी भूमिका है। आवेगों की तीसरी अवस्था, प्रत्याख्यानवरण, के टूटने से व्यक्ति विरति के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका में व्यक्ति साधु बन जाता है। पाँचवी भूमिका गृहस्थ साधकों की है। दोनों साधना–पथ के पथिक हैं। इस प्रकार आवेग चतुष्टय की तीव्रतम अवस्था का विलय होने पर सम्यक दर्शन उपलब्ध होता है। जिस व्यक्ति में आवेग की दूसरी अवस्था का उपशम या क्षय नहीं होता, तब तक व्यक्ति देश–विरति श्रावक नहीं बन सकता। जिस व्यक्ति में आवेग की तीसरी अवस्था का उपशम या क्षय नहीं होता, तब तक वह मुनि–साधक नहीं बन सकता, फिर चाहे वह कितनी ही बार दीक्षित क्यों न हो जाये। जिस व्यक्ति में आवेग की चौथी अवस्था का क्षय नहीं होता, तब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता, वह चारित्र की उत्कृष्ट कोटि–यथाख्यात को नहीं पा सकता। चारों आवेगों के नष्ट होने पर कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं रहता। कोई भी शक्ति उसमें अंतर नहीं ला सकती, कोई भी कष्ट, कोई भी देवी उपसर्ग, मरने का प्रसंग, कोई भी लालच, व्यक्ति की चेतना में अंतर नहीं ला सकता। वह आत्मा के साथ एकान्तमय हो जाता है, एकरूप हो जाता है।

कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग–नियंत्रण की तीन पद्धतियाँ हैं –

1. उपशमन – यह दमन की पद्धति है। व्यक्ति आवेगों का दमन करते–करते आध्यात्मिक विकास की ग्यारहवीं भूमिका तक चला जा सकता है। परन्तु जब दबा हुआ कषाय उभरता है तब ऐसा झटका लगता है कि ग्यारहवीं भूमिका में गया हुआ साधक नीचे लुढ़क जाता है और फिर वह उन्हीं आवेगों से आक्रान्त हो जाता है।
2. क्षयोपशमन – मनोविज्ञान की भाषा में इसे उदातीकरण की पद्धति भी कहा जाता है। इसे मार्गान्तरीकरण भी कहते हैं। इसका अर्थ है – रास्ता बदल देना, उदात कर देना, परिष्कृत कर देना, परिमार्जन कर देना। क्षयोपशमन का अर्थ है – कुछ दोषों का उपशमन हुआ और कुछ क्षीण हुए।
3. क्षयीकरण – दोषों को पूर्ण क्षीण कर देना, विलय कर देना, समाप्त कर देना।

आवेगों के केन्द्र मस्तिष्क में है। आज चिकित्सा विज्ञान में ऑपरेशन के द्वारा आवेग केन्द्रों को समाप्त करना सम्भव है। परन्तु ऐसा आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा भी हो सकता है। आत्मिक प्रक्रिया में पहली आवश्यकता है स्वरूप के संधान की, यानि भेदज्ञान की प्राप्ति या दृष्टिकोण में परिवर्तन की। जिस दृष्टिकोण से आवेग को पोषण मिल रहा था उसे बदल देना होगा। अहंकार और ममकार द्वारा ही आवेग को सिंचन मिलता है। दृष्टिकोण बदलने पर अहंकार और ममकार टूट जाते हैं। आत्मिक प्रक्रिया की दूसरी बात है विपाक की प्रेक्षा, विपाक को देखना। विपाक की प्रेक्षा ध्यान का एक अंग हैं। धर्मध्यान के चार प्रकार हैं – (1) आज्ञा विचय, (2) अपाय विचय, (3) विपाक विचय और (4) संस्थान विचय। साधना की यह भी एक प्रक्रिया है कि जो विपाक आने वाले हैं, उनके प्रति हम पहले से ही जागरूक हो जायें। उन विपाकों को हम बदल सकते हैं, यह संभव है। विपाक कारणों से और निमित्तों से होता है। विपाक की पाँच शर्तें बताई गई हैं – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। जब ये पाँचों शर्तें पूरी होती हैं तब कर्म का विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इसी के आधार पर कर्म की चार प्रकृतियाँ मानी गई हैं – क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भावविपाकी और भवविपाकी।

उदाहरण के तौर पर वेदनीय कर्म को लें। वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं – साता वेदनीय और असाता वेदनीय। असातावेदनीय का एक कारण पुद्गल है, जैसे चोट लगना, अधिक खा लेना आदि। इन बातों पर ध्यान देने से असातावेदनीय कर्म के विपाक को रोका जा सकता है। अन्य उपाय हैं कि हम कष्ट सहिष्णु बनें, परिषहों को सहें। इससे कर्म चक्र को तोड़ा जा सकता है।

वीतराग चेतना के साथ–साथ हमारे में तितिक्षा की चेतना भी जागृत होनी

चाहिए। हम अनुकूलता और प्रतिकूलता को समता भाव से सहन करें। तितिक्षा की चेतना विकसित होने पर मोहनीय कर्म का विपाक नहीं हो सकता।

दशवैकालिक सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्ष भावना का सुन्दर निरूपण किया गया है।

1. क्रोध के आवेग को मिटाना – उपशम का संस्कार पुष्ट करो।
2. मान के आवेग को नष्ट करना – मृदुता को पुष्ट करो।
3. माया के आवेग को नष्ट करना – ऋजुता (मैत्री) के संस्कार को पुष्ट करो।
4. लोभ के आवेग को नष्ट करना – संतोष को विकसित करो।

इस प्रकार प्रतिपक्ष की भावनाओं को पुष्ट करने से आवेग शांत हो जाते हैं। कुछ पदार्थ, औषधियाँ आदि भी विपाक रोकने में सहायता करते हैं। जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कोई भी आवेग नही हो सकता। हमारी साधना का सूत्र है – चैतन्य का सतत् अनुभव। इससे संवर पुष्ट होता है। आत्मा के साथ पौद्‌गलिक संबंध समाप्त होते ही चैतन्य का अनुभव प्रारंभ हो जाता है। जब आत्मा के चैतन्य स्वभाव का जागरण होता है तब कर्म की सत्ता डगमगा जाती है।

योगाभ्यास द्वारा आत्मा के क्लेशात्मक परिणामों का उपशम एवं क्षय होता है। योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकासित होती हुई परम साधु–परम उत्तम–अत्यन्त उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है। तत्वतः वही मुक्ति है। क्योंकि तदन्य–आत्मेतर विजातीय तत्व कर्म आदि से उसका वियोग हो जाता है – बन्धन से छुटकारा हो जाता है। समग्र कर्म क्षीण हो जाते हैं। इसे वृतिसंक्षय कहा जाता है। कर्म–पार्थक्य साधने, शुद्धावस्था प्राप्त करने, आत्मस्थ होने का क्रम समाधि–आत्मलीनता है। परिपक्वावस्था पा लेने पर सर्व कर्म निवृति रूप परम शुद्धावस्था निष्पन्न हो जाने पर उसे योगवेत्ताओं ने मुक्ति कहा है।

2.5 गुणस्थान

गुणस्थान आत्म विकास का परिचायक है। जैसे–जैसे आत्मा का आध्यात्मिक विकास होता है इसके गुणस्थान में वृद्धि होती जाती है।

गुणस्थान का एक नाम जीवसमास भी है। जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं, उसे जीवसमास कहते हैं। जीव रहते हैं, गुणों में अर्थात् भावों में। और ये भाव पाँच हैं –

1. औदयिक – कर्मों के उदय से होने वाले भाव
2. औपशमिक – कर्मों के उपशम से होने वाले भाव

3. क्षायिक – कर्मों के क्षय से होने वाले भाव
4. क्षायोपशमिक – कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले भाव
5. पारिणामिक – कर्मों के उदयादि के बिना जीव के स्वभाव मात्र से उत्पन्न होने वाले भाव

कर्म के बिना जीव के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम भी नही होते। पारिणामिक भाव तो अनादिनिधन स्वाभाविक भाव है। उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम भाव कर्मकृत हैं और चार अवस्थाएँ द्रव्य कर्म की हैं। अतः द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के भावों का कर्ता होता है और संसारी जीव यथायोग्य इन भाव वाले होते हैं। इसी से वे चौदह गुणस्थानों में विभाजित किए गये हैं।

1. मिथ्यादृष्टि – जिनकी दृष्टि मिथ्या होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। दृष्टि, रूचि, श्रद्धा, प्रतीति के विपरीत होने से जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं। उन्हें धर्म में रूचि नही होती। मोहनीय कर्म के एक भेद मिथ्यात्व के उदय से जो जीव अपने हिताहित का विचार नहीं कर सकते, अथवा विचार कर सकने पर भी ठीक विचार नहीं कर सकते वे जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। संसार के अधिकतर जीव इस श्रेणी के होते हैं। सभी स्थावर जीवों का पहला गुणस्थान होता है।
2. सासादन सम्यक्दृष्टि – अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यकत्व नष्ट हो गया है और मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व परिणाम को अभी प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु मिथ्यात्व के अभिमुख है, वह सासादन सम्यक्दृष्टि है। जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय को हटाकर सम्यक्दृष्टि हो जाता है और जब सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाता है तो दोनों के बीच का यह दर्जा होता हैं। अतः जब कोई जीव चौथे गुणस्थान से गिरता है, तभी यह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में आने के बाद जीव नियम से पहले गुणस्थान में पहुँच जाता है।
3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि – जिस जीव की दृष्टि, श्रद्धा, रूचि या प्रतीति समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकार की रिली–मिली होती है, उन्हें पृथक् करना शक्य नहीं, उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।
4. असंयत सम्यग्दृष्टि – जिसकी दृष्टि या श्रद्धा समीचीन है, वह सम्यग्दृष्टि है और संयम से रहित सम्यग्दृष्टि को असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जो न तो इन्द्रियों के विषयों में विरत है और न त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा में विरत है, केवल जिन भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तत्वों का श्रद्धान करता है, वह अविरत सम्यगदृष्टि है।

आगे के सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं।

5. संयतासंयत – जो संयत और असंयत दोनों होते हैं, वे संयतासंयत हैं। जो

एकमात्र जिनदेव के वचनों में श्रद्धा रखते हुए एक ही समय त्रस हिंसा से विरत और स्थावर हिंसा से अविरत होता है, वह विरताविरत या संयतासंयत है। वृती गृहस्थों को संयतासंयत कहते हैं।

आगे के सब गुण संयमी साधुओं के होते हैं।

6. प्रमतसंयत -- प्रकर्ष से मत जीवों को प्रमत कहते हैं और अच्छी तरह से विरत या संयमी को संयत कहते हैं। जो प्रमत होते हुए भी संयमी है, वह प्रमतसंयत है। यहाँ प्रमाद से वही प्रमाद विवक्षित है जो संयम का धातक नहीं है। यहाँ प्रमत शब्द अन्तदीपक है जो छठे से पहले सब गुणस्थानों में प्रमाद का अस्तित्व सूचित करता है।

7. अप्रमतसंयत – जो पन्द्रह प्रमादों से रहित संयमी है, वे अप्रमतसंयत हैं। जिनके समस्त प्रमाद नष्ट हो गए हैं, जो व्रत, गुण, शील से शोभित हैं। जो मोहनीय कर्म का न तो उपशम करता है, न क्षय करता है, केवल ध्यान मे लीन रहता है, वह अप्रमतसंयत है।

सातवें गुणस्थान से आगे के कुछ गुणस्थान दो श्रेणियों में विभाजित हैं। एक का नाम उपशम श्रेणी है और दूसरे का क्षपक (कर्मों को नष्ट कर) श्रेणी। जिसमें जीव उत्तरोत्तर मोह का उपशम करता है (दबाता है) वह उपशम श्रेणी है। उपशम श्रेणी के गुणस्थान हैं – अपूर्वकरण (8), अनिवृतिकरण (9), सूक्ष्म साम्पराय (10) और उपशान्त कषाय (11)। उपशान्त कषाय में चढ़कर जीव नियम से गिरता है और संभलने पर पुनः ऊपर चढ़ सकता है, किन्तु क्षपक श्रेणी पर चढ़ा जीव मोह का क्षय करते हुए ऊपर चढ़ कर मोक्ष प्राप्त करता है। क्षपक श्रेणी के गुणस्थान हैं – अपूर्वकरण (8), अनिवृतिकरण (9), सूक्ष्म साम्पराय (10), क्षीण मोह (12)। ये सभी गुणस्थान क्रमशः होते हैं और ध्यान में मग्न मुनियों के ही होते हैं।

8. अपूर्वकरण – करण का अर्थ परिणाम है और जो पहले प्राप्त नहीं हुए उन्हें कहते हैं अपूर्व। ऐसे अपूर्व परिणाम वाले जीव अपूर्वकरण कहे हैं। अपूर्वकरण रूप परिणामों को धारण करने वाले जीव मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रवृतियों का क्षय अथवा उपशम करने में तत्पर रहते हैं। इस गुणस्थान में न तो किसी कर्म का उपशम होता है और न क्षय होता है। किन्तु इसके लिए तैयारी होती है, जीव के भाव प्रति समय उन्नत, उन्नत होते चले जाते हैं।

9. अनिवृतिकरण (बादर साम्पराय) – एक समयवर्ती जीवों के जिस प्रकार शरीर के आकार वर्णादि भिन्न–भिन्न होते हैं, उसी प्रकार जिन एक समयवर्ती सब जीवों के परिणाम भिन्न–भिन्न न होकर समान ही होते हैं, क्योंकि इस गुणस्थान में एक समय

में एक ही परिणाम है, अपूर्वकरण की तरह बहुत परिणाम नहीं होते, ऐसे समान परिणाम वाले वे जीव अनिवृतिकरण गुणस्थानवर्ती होते हैं। इनका ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है और वे उस ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी वन को जलाने वाले होते हैं। बादर साम्पराय का अर्थ 'स्थूल कषाय' होता है। इस अनिवृतिकरण के होने पर ध्यानस्थ मुनि या तो कर्मों को दबा देता है या इन्हें नष्ट कर डालता है। यहाँ तक के सब गुणस्थानों में स्थूल कषाय पाई जाती है।

10. सूक्ष्मसाम्पराय – सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। अर्थात् जिन जीवों के केवल सूक्ष्म लोभ कषायमात्र शेष रहती है, शेष समस्त मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाता है, वे सूक्ष्म साम्पराय संयमी कहलाते हैं।

11. उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ – जिनकी कषाय उपशान्त हो गई है, इन्हें उपशान्त कषाय कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है, इन्हें वीतराग कहते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों को छद्म कहते हैं, उनमें जो रहते हैं, इन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ हैं, वे वीतराग छद्मस्थ हैं। जो उपशान्त कषाय होते हुए वीतराग छद्मस्थ हैं, वे उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ हैं। इस गुणस्थान में समस्त कषाय (मोहनीय कर्म) उपशान्त हो जाती है, अतः उन्हें उपशान्त कषाय कहते हैं।

उपशम श्रेणी वाले मोह को धीरे–धीरे सर्वथा दबा देते हैं पर उसे निमूल नहीं कर पाते। ऐसा दबा हुआ मोह उन मुनियों को अपने वेग से नीचे की ओर गिरा देता है।

12. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ – जिनकी कषाय क्षीण हो गई है, वे क्षीण कषाय हैं। और क्षीण कषाय होने के साथ जो वीतराग छद्मस्थ हैं, वे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ हैं। उनका सम्पूर्ण मोह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार सातवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले ध्यानी साधु दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। परन्तु उपशम श्रेणी वाले दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर दबे हुए मोह के उद्भूत हो जाने से नीचे गिर जाते हैं। क्षपक श्रेणी वाले मोह को सर्वथा नष्ट करके दसवें से बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। उसी के कारण ग्यारहवें में पहुँचने वाले मुनि का अवश्य पतन होता है और बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाने वाला कभी नहीं गिरता, ऊपर को चढ़ता है। समस्त मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर बारहवाँ गुणस्थान होता है। मोहनीय कर्म के चले जाने से शेष कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है अतः बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिया कर्मों का नाश करके क्षीणकषाय मुनि संयोग केवली हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म के नष्ट हो जाने से

उसके केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है।

13. सयोग केवली – जिस ज्ञान में इन्द्रिय, प्रकाश और मन की अपेक्षा नहीं होती, इसे केवल अथवा असहाय कहते हैं। वह केवल ज्ञान जिनके होता है, इन्हें केवली कहते हैं। जो योग सहित होते हैं, उन्हें सयोग कहते हैं। इस तरह जो योग सहित केवल ज्ञानी होते हैं, उन्हें सयोगकेवली कहते हैं। इसमें जो सयोग पद है वह नीचे के सब गुणस्थानों में योग का अस्तित्वसूचक है। ये केवली परमात्मा, जीवनमुक्त, अरहंत आदि नामों से पुकारे जाते हैं। जैन तीर्थंकर इसी अवस्था को प्राप्त कर जैन धर्म का प्रवर्तन करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहूर्त रह जाती है तो सब व्यापार बंद करके ध्यानस्थ हो जाते हैं।

14. अयोग केवली – जिनके योग नहीं होता वे अयोग होते हैं। ऐसे अयोग केवल ज्ञानी अयोग केवली होते हैं। जिन्होंने 18 हजार शील के स्वामित्व को प्राप्त कर लिया है, जिनके सम्पूर्ण कर्मों का आस्रव रूक गया है तथा नवीन कर्मबंध से भी रहित हैं, वे अयोग केवली होते है। अयोग केवली बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा भस्म करके समस्त कर्म और शरीर के बन्धन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इन चौदह गुणस्थानों से रहित सिद्ध जीव होते हैं। वे कृतकृत्य हो चुके है। इन्होंने अपना सब करणीय कर लिया है, कुछ करना शेष नहीं है। उनके सब कर्म बंधन नष्ट हो गये हैं।

प्रथम चार गुणस्थान नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव सभी के होते हैं। पाँचवा गुणस्थान केवल समझदार पशु पक्षियों और मनुष्यों के होते हैं। पाँचवे से आगे के गुणस्थान साधुजनों के ही होते हैं। उनमें भी सातवें से बारहवें तक के गुणस्थान आत्मध्यान में लीन साधु के ही होते हैं। और इनमें प्रत्येक गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

एकेन्द्रिय से लेकर दूसरे गुणस्थान तक मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी जीव होते हैं। तीसरे गुणस्थान में ज्ञान–अज्ञान से मिश्रित होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ये तीनों चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यंत होते हैं। मनः पर्ययज्ञान छठे से बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है। केवल ज्ञान सयोग केवली, अयोगकेवली और सिद्धों को होता है।

दर्शन चार प्रकार के होते हैं – चक्षु दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन। अचक्षु दर्शन चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से एवं मन द्वारा प्रतिभासित होता है। चक्षु दर्शन और अचक्षुदर्शन एक से बारहवें गुणस्थान पर्यंत होते

हैं। अवधि दर्शन में परमाणु से लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यंत मूर्त पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रतिभास होता है। अवधि दर्शन चौथे से बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है। केवल दर्शन, जो लोक–अलोक को प्रकाशित करने वाला है, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है।

2.6 समीक्षा

जैन मत के अनुसार जीव अनादि–निधन, अमूर्त, अक्षय और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुण वाला है। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। जीव अनादि काल से ही अशुद्ध अवस्था में है। संसारी जीव में योग यानि मन, वचन, काया की प्रवृति होती है। प्रवृति से चैतन्य–प्रेरित क्रियात्मक शक्ति प्रेरित कम्पन्न से आस्रव होता है और कार्मण वर्गणा के परमाणुओं का आत्मा के साथ बंध होता है। कर्म बंध से आत्मा के गुण आवृत हो जाते हैं।

आत्म विकास जीव का स्वाभाविक गुण है। जीव इन्द्रियों का विकास करता हुआ मन का विकास करता है। मनुष्य योनि में विवेक शक्ति प्राप्त होने पर जीवात्मा कर्म–चक्र को तोड़ने की स्थिति में आ जाता है। विवेकवान जीव आवेग–नियंत्रण की पद्धति अपनाकर कर्मों की निर्जरा करता है तथा परम पुरूषार्थ से अन्ततः परम लक्ष्य, जीवन मुक्ति को प्राप्त करता है। आत्म विकास के मार्ग में प्रगति 14 गुणस्थानों से जानी जाती है। अन्तिम गुणस्थान में जीव के योग का अभाव हो जाता है और जीव शेष अघातीया कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होता है, सिद्ध हो जाता है।

मुक्त आत्मा के बारे में निम्न तथ्य बताये गये हैं –

1. मुक्त आत्मा लोक के अन्त में सिद्ध शिला पर विराजमान है।
2. सिद्ध आत्मा अनंत ज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य सम्पन्न है। अभेदनय से सिद्ध आत्मा के केवल एक शुद्ध चैतन्य गुण ही है।
3. मुक्त आत्मा देह रहित होते हुए भी अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकार प्रमाण है। यह न्यूनता शरीर–उपांग जनित नासिकादि छिद्र अपूर्ण होने से है।
4. सिद्धों के भाव प्राण होते हैं, क्योंकि उनमें जीव स्वरूप का सद्भाव है।
5. मुक्त आत्मा में योग का अभाव है, उनमें किसी प्रकार का कम्पन्न नहीं होता है।
6. सिद्धों में अवगाहन गुण है, यानि एक सिद्ध के क्षेत्र में संकट–व्यतिरेक दोष बिना अनंत सिद्धों को अवकाश देने की सामर्थ्य है।

वृहद–द्रव्य–संग्रह ग्रंथ में सिद्धों के बारे में एक प्रश्न किया गया है और उसका उत्तर भी दिया गया है। इस प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए। प्रश्न

एक शंका के रूप में है। लिखा है कि – "कोई शंका करता है कि जिस प्रकार दीपक के ढ़कने वाले पात्र आदि दूर होने पर, दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार शरीर का अभाव होने पर सिद्धों की आत्मा फैल कर लोक प्रमाण हो जाना चाहिए।" शंका का समाधान भी वहाँ किया गया है। लिखा है कि – "दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है वह पहले से स्वभाव से ही होता है, पश्चात् उस दीपक का आवरण हुआ है, परन्तु जीव का तो लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशपना स्वभाव है, प्रदेशों का विस्तार स्वभाव नहीं है। प्रश्न – ऐसा किसलिए? जीव का लोक प्रमाण प्रदेश पहले विस्तीर्ण (लोक में फैले हुए) निराकरण होते हैं और पश्चात् दीपक की भाँति आवरण हुआ है। उत्तर – इस प्रकार नहीं है। परन्तु जीव के प्रदेश तो पहले से ही अनादि संतान रूप से शरीर से आवृत रहे हैं अतः जीव के प्रदेशों का संकोच बाद में नहीं होता हैं तथा विस्तार शरीर नाम कर्म के अधीन है, स्वभाव नहीं है, इस कारण शरीर का अभाव होने पर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता है।"

उपरोक्त के संबंध में निम्न प्रश्नों पर भी विचार किया जाना चाहिए –

1. आकार मूर्त वस्तु का होता है, अमूर्त द्रव्य का आकार क्या संभव है? लोक में जो अन्य अमूर्त द्रव्य हैं – धर्म, अधर्म और आकाश, वे सब लोक प्रमाण हैं।
2. सिद्धों में सभी गुण अनन्त प्रमाण है। केवल आकार ही सीमित क्यों होना चाहिए?

ऊपर दीपक के उदाहरण से सिद्धात्मा के विस्तार नहीं होने की जो बात कही गई है वह कितनी युक्तिसंगत है? एक वैज्ञानिक सिद्धान्त भी यहाँ प्रासंगिक है। वैज्ञानिकों द्वारा माना गया है कि प्रकाश विद्युत–चुम्बकीय ऊर्जा है और फोटोन कणों से बना है। इन प्रकाश कणों की तरंग रूप में आवृति शून्य हो जाने पर इनका तरंग दैर्ध्य अनंत हो जाता है। मुक्तावस्था में आत्मा में कम्पन्न नहीं होता है अतः इस सिद्धान्त के अनुसार इसका तरंग दैर्ध्य अनन्त होना चाहिए अर्थात आत्म–प्रकाश समस्त लोक में व्याप्त होना चाहिए। केवली समुद्घात की स्थिति में जीवात्मा का विस्तार लोक प्रमाण माना भी गया है।

यदि मुक्तात्मा का विस्तार लोक प्रमाण मान लिया जाय तो क्या स्थिति बनती है उस पर भी विचार होना चाहिए। सिद्ध आत्मा अनन्त है और सबका प्रकाश लोक में व्याप्त है। हर सिद्ध आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है। परन्तु जब अनन्त दीपक का प्रकाश आकाश में व्याप्त है तो अवगाहन गुण से इनका सम्मिलित प्रभाव ही परिलक्षित होगा। इस प्रकाश के गुण क्या होंगे? वही गुण होंगे जो दीपक के हैं यानि चैतन्य गुण। इस प्रकार समस्त लोकों में एक चैतन्य रूप प्रकाश का व्याप्त होना सिद्ध होता है। यह प्रकाश अमूर्त है और जीव द्वारा या किसी भी उपकरण के द्वारा

नहीं देखा जा सकता। क्या जीवात्मा द्वारा इसका अनुभव किया जा सकता है? इसके बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं है। परन्तु यह संभव है कि मुक्तात्मा का यह चैतन्य प्रकाश सभी जीवात्माओं को मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दे रहा है, इससे बड़ा और कोई उपकार नहीं हो सकता। यदि इस चैतन्य प्रकाश को परमेश्वर नाम की संज्ञा दे दी जाय तो जैन मान्यताओं और अन्य दार्शनिक मान्यताओं में कितना साम्य हो जाता है, विचारणीय है।

2.7 संदर्भ

1. कर्मवाद – आचार्य महाप्रज्ञ
2. पाप की सजा भारी – भाग 1 – मुनिराज श्री अरूणविजय जी महाराज
3. आचार्य श्री हरिभद्र सूरी कृत जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय – डॉ. छगनलाल षास्त्री
4. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लषण – देवेन्द्र मुनि शास्त्री
5. गौम्मटसार जीवकाण्ड – आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
6. वृहद–द्रव्य संग्रह – श्रीमद् नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव

अध्याय 3

सूक्ष्म शरीर के तंत्र-अध्यवसाय, लेश्या, मन और चित्त

3.1 सूक्ष्म शरीर

हमारी चेतना के अनेक स्तर है। उनमें सबमें स्थूल स्तर है इन्द्रिय। उससे सूक्ष्म है मन। उससे सूक्ष्म है बुद्धि और उससे सूक्ष्म है अध्यवसाय। इस प्रकार स्तर असंख्य हो सकते है जिनका नामकरण नही किया जा सकता। आत्मा अमूर्त है। शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती हैं। यह अभिव्यक्ति सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों में होती है। हम सूक्ष्म शरीर के अभिव्यक्ति तंत्र के बारे में संक्षिप्त विचार करेगें। यह तंत्र मुख्यतया स्पंदनो, तरंगो से निर्मित है।

3.2 अध्यवसाय

संसारी जीव में आत्मा की चैतन्य शक्ति आवृत होती है। आत्म शक्ति के स्पंदन आवरणों से होते हुए सूक्ष्म और स्थूल शरीर में प्रकट होते हैं। आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में एक चेतन आत्मा है। इस केन्द्र की परिधि में अति सूक्ष्म कर्म शरीर द्वारा निर्मित कषाय का वलय है। यद्यपि चेतन तत्व शासक के स्थान पर है. फिर भी कषायतंत्र इतना शक्तिशाली हे कि इसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर सकता। चैतन्य की प्रवृति स्पन्दन के रुप होती है। इन्हें बाहर निकलने के लिए कषाय वलय को पार करना पडता है। पार करने पर आत्मा के स्पन्दन कषायरंजित हो जाते है जिन्हें अध्यवसाय कहा जाता है। अर्थात कर्म शरीर रुपी कषायतंत्र से बाहर आने वाले स्पन्दनों में कषाय के गुण आ जाते हैं। कषायतंत्र कितना भी शक्तिशाली हो, फिर भी आत्मा में वह शक्ति है जिसका प्रयोग कर वह कषाय का विलय कर सकता है। इस स्थिति में यद्यपि कषाय का तंत्र समाप्त नहीं होता है फिर भी इसकी सक्रियता कम हो जाएगी और प्रभाव क्षीण हो जाएगा। परिणाम स्वरुप जो अध्यवसाय बाहर आएगें वे मंगलरुप और कल्याणकारी होगें। ऐसा तभी होता है जब आत्म चेतना जागृत हो गई है।

मन मनुष्य या अन्य विकसित प्राणियों में ही होता है। किन्तु अध्यवसाय सब प्राणियों में होता है। अध्यवसाय हमारे ज्ञान का सबसे बडा स्रोत है। अध्यवसाय के अनेक स्पन्दन अनेक दिशाओं में आगे बढतें है। इनकी एक धारा तैजस शरीर के साथ–साथ सक्रिय होकर आगे बढती है तो लेश्या तंत्र बन जाता है। लेश्या के रुप में अध्यवसाय की यह धारा रंग से प्रभावित होती है और रंग के साथ जुडकर भावों

का निर्माण करती है। जितने भी अच्छे या बुरे भाव है,वे सारे इसके द्वारा ही निर्मित है। अध्यवसाय के स्पन्दन आगे बढकर सीधे स्थूल शरीर में भी उतरते है। वहाँ सबसे पहले मस्तिष्क के माध्यम से चित्त का निर्माण करते है।

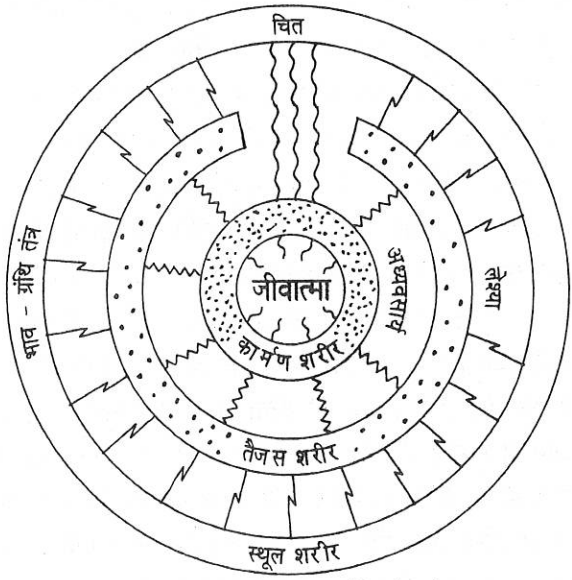

चित्र 3.1 : सूक्ष्म शरीर के तंत्र

अध्यवसाय या सूक्ष्म चित्त को चार भागों में विभक्त किया गया है– (1) मिथ्यात्व, (2) अविरति, (3) प्रमाद, (4) कषाय । ये चार प्रकार के चित्त सतत सक्रिय रहते हैं निरंतर गतिशील रहते हैं। मिथ्यात्व अध्यवसाय दृष्टिकोण को भ्रांत बनाते हैं। अविरति से तृष्णा उत्पन्न होती है जो स्थूल चित्त में प्रकट होकर लोभ और लोभ जनित प्रवृतियाँ उत्पन्न करती है। प्रमाद चित्त मूर्च्छा उत्पन्न करता है। ये सब आंतरिक प्रवृतियाँ हैं, इनका हमारे स्थूल शरीर ,चित्त या मन के साथ कोई सबंध नहीं है। ये सारी वृतियाँ संस्कार चित्त या अध्यावसाय से आती हैं और स्थूल चित (बुद्धि) में प्रगट होती हैं। फिर स्थूल चित की क्रिया का संचालन या संवहन मन करता है। मन मूल स्रोत नहीं है।

उपरोक्त तथ्य को समझने के लिए असंज्ञी जीव का उदाहरण महत्वपूर्ण है। एक वनस्पति जीव हैं। उसके न मन है, न वचन हैं, केवल शरीर है। वह जीव निरंतर सोया रहता है। मनशून्य और वचन शून्य वह वनस्पति जीव भी अठारह पापों का सेवन करता है, उनसे होने वाला कर्मबंध उसके होता है। ऐसा क्यों होता है? यह

इसलिए होता है कि उस जीव के अध्यवसाय होते हैं वे अध्यवसाय विशुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं इसलिए उसके कर्म का बंध भी होता है। हिंसा जनित कर्म का बंध भी होता है और परिग्रहजनित कर्म का बंध भी होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ जनित कर्म का बंध भी होता है। वह जीव अपने शत्रुओ की हिंसा करता है इसलिए हिंसा जनित कर्म का बंध होता है।

विज्ञान के अनुसार भी जिन जीवों के मास्तिष्क नहीं होता, मन नहीं होता, उनकी कोशिकाएँ सारा ज्ञान करती हैं। वनस्पति जीव जितने संवेदनशील होते हैं, मनुष्य उतने संवेदनशील नहीं होते। वनस्पति में अध्यवसाय का सीधा परिणाम होता है। इसलिए उन जीवों मे जितनी पहचान, जितनी स्मृति और दूसरों के मनोभावों को जानने की जितनी क्षमता होती है, वैसी क्षमता सारे मनुष्यों मे भी नहीं होती।

लेश्या से भावित अध्यवसाय जब आगे बढ़ते हैं तो वे हमारे अंतःस्रावी ग्रंथितंत्र को प्रभावित करते हैं। इन ग्रंथियो का स्राव ही हमारे कर्मो के अनुभाग यानि विपाक का परिणमन है। इस प्रकार पूर्वसंचित कर्म का अनुभाग रसायन बनकर ग्रंथितंत्र के माध्यम से हार्मोन के रूप में प्रकट होता है। ये हार्मोन रक्त संचार तंत्र के द्वारा नाड़ी तन्त्र और मस्तिष्क के सहयोग से हमारे अंतर्भाव, चिन्तन, वाणी, आचार और व्यवहार को संचालित और नियंत्रित करते हैं। इस तरह ग्रंथितंत्र सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच "ट्रांसफार्मर" परिवर्तन का काम करता है। अध्यवसाय की अपेक्षा से यह स्थूल है और शरीर के बीच की कड़ी हैं, जो हमारी चेतना के अति सूक्ष्म और सूक्ष्म और अमूर्त आदेशों को भौतिक स्तर पर परिवर्तित कर देती हैं और मन एवं स्थूल शरीर तक पहुंचाती हैं।

मन, शरीर और वाणी – ये तीनों क्रिया तंत्र (योग तंत्र) के अंग हैं, क्रियान्विति के साधन हैं ज्ञान के साधन नहीं। ज्ञान तंत्र, चित तंत्र तक और भाव तंत्र, लेश्या तंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों की क्रियान्विति के लिए क्रिया तंत्र सक्रिय होता है। मन का कार्य है– स्मृति, कल्पना और चिंतन करना। मन का काम ज्ञान करना नहीं है। मन का काम है– चित तंत्र और लेश्या तंत्र से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना ।

इस प्रकार चेतना के तीन स्तर हैं।

1. स्थूल चेतना का स्तर – यह स्थूल शरीर के साथ कार्यशील रहता है।
2. लेश्या का स्तर – यह तैजस शरीर के साथ काम करता है।
3. अध्यवसाय का स्तर– यह कार्मण शरीर के साथ काम करता है।

आत्मा मूल चेतना है। चैतन्य की रश्मियाँ अनेक दिशाओं में बढ़ती हैं। यह

चैतन्य की रश्मियां कर्म शरीर के कषायों के साथ सक्रिय होती हैं, तब अध्यवसाय स्तर का निर्माण होता है। अध्यवसाय के स्पन्दन आगे बढ़ते हैं और तैजस शरीर के साथ सक्रिय होते हैं, तब लेश्या स्तर का निर्माण होता है। लेश्या के स्पंदन आगे बढ़ते हैं और स्थूल शरीर में प्रवेश करते हैं जहाँ वे ग्रंथि–तंत्र को प्रभावित करते हैं। ग्रंथि तंत्र के माध्यम से वे भावों के रूप मे प्रकट होते हैं। स्थूल शरीर के साथ जहाँ आत्मा का स्पंदन जुड़ता है, वहाँ चित का निर्माण होता है। चित्त की अभिव्यक्ति मस्तिष्क अर्थात् नाड़ी तंत्र के माध्यम से होती हैं। अध्यवसाय हमारे नाड़ी संस्थान और मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं और जब वे लेश्या की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब ये हमारी ग्रंथियों और उनके माध्यम से हमारे सारे शरीर तंत्र को प्रभावित करते हैं। चित्त द्वारा प्रवृति तंत्र का संचालन होता है।

भाव का सम्पर्क चित्त से होता है। चित उनसे कभी प्रभावित होता है कभी नहीं होता है। भाव मंद होता है और चित्त जागरूक होता है तो चित्त प्रभावित नहीं होता। चित्त अजागरूक होता है और भाव तीव्र होता है तो चित्त प्रभावित होता है। भावों से प्रभावित चित्त अपना स्वतन्त्र निर्णय नहीं कर पाता। जिस दिशा में भाव प्रेरित करते हैं, उसी दिशा में प्रवृति तंत्र का संचालन होता है और व्यक्ति वैसा ही आचरण व व्यवहार करने लगता है। भावों को मंदता में चित अप्रभावित रहता हैं और अपना स्वतंत्र निर्णय करता हैं। चित्त आचरण और व्यवहार को परिष्कृत करने में सक्षम हो जाता हैं। भावों की तीव्रता को कम करने, आचरण और व्यवहार को परिष्कृत करने के लिए लेश्या परिवर्तन का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक हैं।

अध्यवसाय के आधार पर भाव–परिवर्तन होता है और भाव परिवर्तन के आधार पर विचार परिवर्तन होता है। विचार का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, स्वतंत्र मूल्य नहीं है। सारे विचार भावतंत्र के आधार पर पैदा होते हैं और विलीन हो जाते हैं। भावतंत्र पर कोई नियंत्रण नहीं हो सकता है। शरीर, वाणी, मन की प्रवृति पर नियंत्रण किया जा सकता है। भाव और लेश्या के क्षेत्र में नियंत्रण नहीं शोधन होता है। जब तक शोधन नहीं होगा तब तक नियंत्रण की बात सामने आती रहेगी।रूपान्तरण के बाद नियंत्रण की जरूरत नहीं होती।

3.3 लेश्या-तंत्र

लेश्या का काम हैं कषाय की तंरगों और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना और उन्हें विचार तक, क्रिया तक पहुँचा देना। यह सबसे बड़ा संस्थान है। सूक्ष्म

शरीर और स्थूल शरीर के बीच में सम्पर्क सूत्र का काम लेश्या करती है। मन वचन और काया की प्रवृति द्वारा जो कुछ बाहर से आता हैं लेश्या उसे लेती है और कषाय तंत्र तक पहुँचा देती है। जो कर्म बन जाता हैं वह फिर विपाक में आता है। उसे लेश्या अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक, मस्तिष्क और अंतःस्रावी ग्रन्थियों तक पहुंचा देती है। आवागमन करने वाली ये लेश्याएँ रंगीन होती हैं, रंग भेद से ही उनकी पहचान होती है।

लेश्या के दो भेद हैं पौद्गलिक लेश्या और चैतसिक लेश्या अथवा द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या के दो प्रकार हैं – कर्म लेश्या और नोकर्म लेश्या। जब कार्मण शरीर से कर्म प्रवाहित होकर तैजस शरीर में प्रकट होते हैं तो वह कर्म लेश्या कहलाती है। कार्मण परमाणुओं मे वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चारो गुण होते हैं। उनमें वर्ण मनुष्य के शरीर और मन को अधिक प्रभावित करता है इसलिए वर्ण के आधार पर लेश्याओं को वर्गीकृत किया गया है। सूर्य का प्रकाश, विभिन्न रंगों की किरणें, ज्योति, रत्नों की रश्मियॉ आदि नोकर्म लेश्या हैं।

कर्म लेश्या का जैसा प्रवाह होता हैं, वैसी ही हमारी आत्म–परिणति हो जाती हैं। वह भाव लेश्या कहलाती है। आत्मा के परिणामों का अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं, आत्मा का परिणाम उस रंग में बदल जाता है वैसी ही हमारी भाव लेश्या हो जाती है। विभिन्न जीवों के भाव रूपी शरीर का रंग विभिन्न होता है। रंगो के अनुसार लेश्या छः प्रकार की होती है। इन छः लेश्याओं का सूक्ष्म विवेचन करने पर संख्यात, असंख्यात, भेद–प्रभेद हो जाते हैं। छः प्रकार की लेश्याएँ निम्न हैं।

1. कृष्ण लेश्या – कृष्ण लेश्या से परिणत जीव निर्दय, झगड़ालू, रोद्र, वैर की परम्परा से संयुक्त, चोर, असत्यभाषी, परदारा का अभिलाषी, मधु, मांस, व मद्य में आसक्त, जिन शासन के श्रवण में कान को न देने वाला और असंयम में मेरू के समान स्थिर स्वभाव वाला और दूसरों के वश में न आने वाला होता है।

2. नील लेश्या– जीव नील लेश्या के वश मे होकर मन्द, बुद्धिविहीन, विवेक से रहित, विषय लोलुप, अभिमानी, मायाचारी, आलसी, अभेद्य, निद्रा (या निन्दा) व धोखेबाजी मे अधिक धन–धान्य में तीव्र अभिलाषा रखने वाला तथा अधिक आरम्भ को करने वाला होता है।

3. कापोत लेश्या – जीव कापोत लेश्या से प्रेरित होकर रूष्ट होता है, पर की निन्दा करता है, उन्हें बहुत प्रकार से दोष लगाता है, प्रचुर शोक व भय से संयुक्त होता है, दूसरों से ईर्ष्या करता है, पर का तिरस्कार करता है, अपनी अनेक प्रकार प्रशंसा

करता है, वह अपने ही समान दूसरों को भी समझता हुआ अन्य का कभी विश्वास नहीं करता है, अपनी प्रशंसा करने वालों से संतुष्ट होता है, हानि–लाभ को नहीं जानता है। युद्ध में मरण की प्रार्थना करता है, दूसरों के द्वारा प्रशंसित होकर उन्हें बहुत सा पारितोषिक देता है, तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से रहित होता है।

4. तेजो लेश्या – तेजो लेश्या जीव को कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य और सेव्य – असेव्य का जानकार, समस्त जीवों को समान समझने वाला, दया, दान मे लवलीन और सरल होता है।

5. पद्मलेश्या – पद्मलेश्या में परिणत जीव त्यागी, भद्र, पवित्र ऋजुकर्मा (निष्कपट) भारी अपराध को भी क्षमा करने वाला तथा साधु पूजा व गुरू पूजा में तत्पर रहता है।

6. शुक्ल लेश्या – शुक्ल लेश्या वाला जीव अहिंसादि कार्यो में तीव्र उद्यमशील होता हैं, पक्षपात रहित होता हैं, निदान नहीं करता हैं, सब जीवों में समान रहकर राग, द्वेष व स्नेह से रहित होता है।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को अशुभ लेश्या और तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या को शुभ लेश्या कहा जाता है। किसी एक काल में जीव के एक लेश्या होती है। कर्मों के भोग से, कर्म निर्जरा से, जीव के अध्यवसाय व पुरूषार्थ से जागृत कर्मो में परिवर्तन हो जाता है और लेश्या भी बदल जाती है। मनुष्यों और तिर्यंचों में सामान्य से छहों लेश्या हो सकती हैं। नारकियों में अशुभ लेश्या और देवों के शुभ लेश्या होती हैं। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या एकेन्द्रिय से लेकर चौथे गुणस्थान पर्यन्त होती है। पीत और पद्म लेश्या एक से सातवें गुणस्थान मे होते हैं। शुक्ल लेश्या एक से तेरहवें गुणस्थान मे होती है। चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती।

कृष्ण लेश्या का वर्ण काला होता है। उसमें दुर्गन्ध होती है, मरे हुए कुत्ते की सड़ांध से भी अनेक गुना अधिक। कृष्ण लेश्या का रस कड़वे तुंबे से भी अनन्तगुना कड़वा होता है। उसका स्पर्श करवत से भी अनन्तगुना ज्यादा कर्कश होता है। नील लेश्या का रस त्रिकटु और गजपीपल के रस से भी अनन्तगुणा तीखा होता है। कापोत लेश्या का रस कच्चे आम और कच्चे कपित्थ के रस से भी अनन्तगुना कषैला होता है।

आज के मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अन्तर–मन को अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्व रंग है। रंग हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। हमारे भावों और विचारों का संबंध रंग से है। जिस प्रकार के रंग हम ग्रहण करते हैं, वैसे ही हमारे

भाव बन जाते हैं। जब हम हिंसा का विचार करते हैं तब काले रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं और हमारी आत्मा के परिणाम भी काले रंग के अनुरूप बन जाते हैं। वैसी ही हमारी भाव लेश्या होती है।

रंगो के आधार पर मनुष्य के मनोभावों को पहचाना जा सकता है। जिसे आसमानी रंग पसन्द होता है वह बोलने में दक्ष, सहृदय और गम्भीर होता है। वह मनोविकार, उत्साह आदि वृतियों पर नियंत्रण पा लेता हैं। जिसे पीला रंग पसन्द है, वह विचारक और आदर्शवादी होता है। लाल रंग को पसन्द करने वाला व्यक्ति साहसी, आशावान, सहिष्णु और व्यवहार कुशल होता है। काले रंग को पसन्द करने वाला दीन भावना से घिरा होता है। श्वेत रंग को पसन्द करने वाला सात्विक वृति और सात्विक भावना वाला होता है।

3.4 मन

मन क्या है? मन कोई स्थायी तत्व नहीं हैं। वह चेतना से सक्रिय बनता है। एक वाक्य में परिभाषा की जाए तो कहा जा सकता है– जो चेतना बाहर जाती है, उसका प्रवाहात्मक अस्तित्व ही मन है। शरीर का अस्तित्व जैसे निरन्तर है वैसे भाषा और मन का अस्तित्व निरन्तर नहीं है, किन्तु प्रवाहात्मक है। भाषण से पहले भी भाषा नहीं होती और भाषण के बाद भी भाषा नहीं होती। भाषा केवल भाषण–काल में होती हें। इसी प्रकार "मन्यमान" मन होता है। मनन से पहले भी मन नहीं होता है और मनन के बाद भी मन नहीं होता। मन केवल मनन काल में होता है। मन एक क्षण में एक होता है।

जैन दर्शन के अनुसार मन दो प्रकार का है(1) द्रव्य मन और (2) भाव मन।
द्रव्य मन–यह मन का भौतिक पक्ष हैं और मनोवर्गणा नामक परमाणुओं से बना हुआ है। साधारणतया इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक और संवेदात्मक अंग, जैसे मस्तिष्क, स्नायुतंत्र आदि भी आ जाते हैं। यह मन आत्मा से भिन्न है।
भाव मन – विचारात्मक मन भाव मन है । यह द्रव्य मन में प्रवाहित होने वाली चैतन्य धारा है जिसमे चिन्तन मनन की शक्ति है। यह शक्ति आत्मा से मिलती है। भाव मन का स्थान आत्मा ही है। चूंकि आत्म– प्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं, अतः भाव मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। भाव–मन के लब्धि और उपयोग ये दो भेद हैं। प्रथम मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार है।

मन के दो गुण हैं– (1) अणुता और (2) एकता । अर्थात् मन अणु है और एक है यदि मन अनेक हो तो युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए, पर ऐसा नहीं होता

है। एक काल में एक ही ज्ञान होता है। आत्मा विभु है और उसका एक काल मे ही सबके साथ योग रहता है और युगपत अनेक ज्ञान हो सकते हैं। मन तथा आत्मा अध्यात्म द्रव्य हैं। मन के विषय और बुद्धि (इन्द्रिय बुद्धि और मनो बुद्धि) ये अध्यात्म गुण हैं।

मन के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों के बीच गहन संबंध है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्यक्षेत्र भौतिक जगत है। जड़ पक्ष की और से वह भौतिक पदार्थो से प्रभावित होता है और अपने चेतन – पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार मन के द्वारा आत्म तत्व और जड़ तत्व के मध्य अपरोक्ष संबंध बना है। जब तक यह माध्यम (मन) रहता है तभी तक जड़ और चेतन जगत में पारस्परिक प्रभावकता रहती है और बन्धन का क्रम चलता रहता है। मुक्ति अवस्था में मन का आत्मा में विलय हो जाता है और फिर बन्धन की सम्भावना नहीं रहती।

मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है इसलिए वह ज्ञानात्मक है। उसका कार्य स्नायुमण्डल, मस्तिष्क और चिंतन– योग्य पुद्गलों की सहयता से होता है इसलिए वह पौद्गलिक भी है। हमारी शारीरिक और मानसिक – दोनों प्रकार की क्रियाएँ स्नायुमण्डल के द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होती हैं। मस्तिष्क के दो भाग हैं – (1) वृहद्मस्तिष्क (2) लघु मस्तिष्क। ज्ञानवाही स्नायु वृहद्मस्तिष्क तक अपना संदेश पहुँचाते हैं और उसके ज्ञान प्रकोष्ठ क्रियाशील हो जाते हैं। मन का मुख्य केन्द्र यह वृहद्मस्तिष्क है। वृहद् मस्तिष्क के द्वारा जो चैतन्य प्रकट होता है, जिसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता होती है, उसका नाम है मन।

मन का अर्थ हैं – संकल्प – विकल्प, स्मृति और चिंतन, और कल्पना। मन तीनों कालों में बंटा हुआ है। मन का, कार्य है– अतीत की स्मृति करना, वर्तमान का चिंतन करना और भविष्य की कल्पना करना। तीनों चंचलताएँ हैं (प्रकम्पन हैं)। जब स्मृति, चिन्तन, कल्पना नहीं होते तब मन नहीं होता। जब मन होता हैं तब स्मृति, चिंतन, कल्पना अवश्य होते हैं। ऐसी स्थिति में मन को स्थिर करने की बात प्राप्त नहीं हो सकती।

मन एक होता है। उसमें असंख्य पर्याय हैं। वह भिन्न–भिन्न आकारों में बदलता है हम जैसा चाहते हैं, वह उसी प्रकार का आकार लेना शुरू कर देता है। यह मन की विशेषता है।

एक प्रश्न है मन कहाँ है? इस संबधं में चार विचारधाराएं हैं –

1. मन समूचे शरीर में व्याप्त है।
2. मन का स्थान ह्रदय के नीचे है।

3. मन हृदय–कमल के बीच में है। कुछ योगाचार्यों का मत है– बाएँ फेफड़े में जहाँ हृदय है, उसके एक इन्च नीचे मन का स्थान है।
4. वर्तमान शरीर शास्त्र का अभिमत हैं कि मन का स्थान मस्तिष्क है।

वस्तुतः ये सारी सापेक्षताएँ हैं। हमारे स्नायु–संस्थान में जितने भी ग्राहक स्नायु हैं, जो बाह्य विषयों को ग्रहण करते हैं, उनका जाल समूचे शरीर में फैला हुआ है। इस प्रकार मन का शासन सर्वत्र व्याप्त है। सुषुम्ना की एक धारा हृदय को छूती हुई जाती है। उसका हृदय के साथ सम्पर्क है इसलिए हृदय को मन का केन्द्र मानना बड़े महत्व की बात है। वह भाव पक्ष का मुख्य स्थान है। मन का स्थान मस्तिष्क है, यह बहुत स्पष्ट है। ज्ञान तंतुओं का संचालन इसी से होता है। यह उन पर नियन्त्रण और नियमन करता है।

प्रत्ययः इन्द्रिय जन्य ज्ञान। सर्दी का मौसम है, ठंडी हवा चल रही है। हमें सर्दी लग रही है। यह है प्रत्यय या निर्विकल्प प्रत्यक्ष। यह इन्द्रिय जन्य ज्ञान है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे प्रत्यय (Percept) कहते हैं। यह इन्द्रिय का सम्यक बोध है। उसके बाद फिर मन जुड़ जाता हैं। हमारी भाषा में पहले व्यंजन होता है। व्यंजन का मतलब हैं–विषय के पुद्गलों का ग्रहण होकर मस्तिष्क तक पहुँच जाना। फिर उस व्यंजन का बोध होता है। पहले मन का योग नहीं, केवल इन्द्रियों का ज्ञान रहता है। यहाँ आते–आते मन साथ जुड़ जाता है और वह मानसिक विषय बन जाता है। मन साथ में जुड़ा जब उस विषय में तर्क, ऊह, अपोह होता है, निर्णय होता है और उसके बाद धारणा होती है, शक्ति का संचय हो जाता है।

संस्कार, धारणा, स्मृति

धारणा के बाद अगली प्रक्रिया शुरु होती है। हमारे मष्तिष्क में धारणा के प्रकोष्ठ हैं। प्रत्यय आता है और तत्काल चला जाता है किन्तु प्रत्यय या निर्विकल्प ज्ञान अपने संस्कार छोड जाता है। प्रत्यय तो चला गया किन्तु हमारे मन में एक प्रतिमा बन गई। दूसरी कोई उतेजना सामने आती है, वह धारणा फिर जागृत हो जाती है। उसे हम कहते है स्मृति। संस्कार के जागरण से होने वाला संवेदन स्मृति कहलाता है। संस्कार जागा, जो वासना में था, वह जागृत हुआ, स्मृति हो गई।

मन की व्यापकता

(1) विषय की दृष्टिः– इन्द्रियों के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृश्ट, अश्रुत, अननुभुत, मुर्त और अमुर्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल मानसिक होता है। मन का

विषय श्रुत है। श्रुत मनोविज्ञान इन्द्रिय–निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। (2) काल की दृष्टिः– इन्द्रियाँ सिर्फ वर्तमान को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता अभिनिबोध और शब्द ज्ञान त्रैकालिक। त्रैकालिक संज्ञान में स्मृति और कल्पना का विकास होता है तथा उसमे भूत और भविष्य के संकलन की क्षमता होती है इसलिए मन को दीर्घकालिक संज्ञान भी कहा जाता है।

मन तो एक ही है, हमारे चित अनेक होते हैं। हमारे चित की वृतियाँ अनेक होती हैं। नाना प्रकार के चित जागते हैं और मन अनेक बन जाते हैं। मन अपने आप में एक होता है। चित की वृतियों के कारण और अनेक चितों के कारण मन भी अनेक जैसा प्रतिभासित होता है।

प्राणिमात्र में चेतना समान होती है, पर उसका विकास समान नही होता है। अतः मन सभी प्राणियों में नही होता। वह केवल गर्भज पंचेन्द्रिय प्राणी में होता है। मन का कार्य है, गतिशीलता। बिना किसी पौर्वापर्य या संबंधों के विचारों का प्रवाह हमारे भीतर चलता रहता है। इनके संबंधों को नही जानते, अतः ऐसा लगता है। इसका कारण है– हमारे भीतर इच्छाओं, संस्कारों और वृतियों का गहरा जमाव है। ये वृतियाँ निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं। इनके स्पन्दित होने का कारण कर्म शरीर के स्पन्दन हैं। कर्म शरीर के सूक्ष्म स्पन्दन हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं। उसी कारण विचारों का सिलसिला चालू रहता है, मानसिक चंचलता बनी रहती है, कभी रूकती नहीं।

चेतन मन – मन का वह स्तर है, जिसमें व्यक्ति को अपनी क्रियाओं का वर्तमान समय में ज्ञान रहता है। चेतन मन में विचार या भाव धारा के समान निरन्तर बहते रहते हैं, जिन पर हमारा कभी नियंत्रण रहता है और कभी नहीं। यह मन का ऊपरी या प्रथम स्तर है। मन के इस स्तर को अवधान का केन्द्र या चेतना का केन्द्र कहते हैं। मन का यह भाग जागृत अवस्था में श्रंखलाबद्ध रहता है। कोई भी कार्य से पूर्व यह मन विचार कर लेता है। इसकी क्रियाएँ प्रायः तर्क द्वारा संचालित होती हैं। चेतन मन में तीन पक्ष होते हैं– (1) ज्ञानात्मक (2) भावात्मक, (3) क्रियात्मक । मन में तीनों क्रियाएँ मिलकर काम करती हैं।

अर्द्धचेतन मन (अवचेतन मन)– अवचेतन मन का वह स्तर है, जिसकी क्रियाएँ ध्यान की सीमा से परे होते हुए भी प्रयत्न करने पर ध्यान केन्द्र में लायी जा सकती हैं। अवचेतन मन की क्रियाएँ न तो पूर्णरूप से व्यक्त होती हैं, न अव्यक्त। हमारे शरीर की सभी ग्रंथियां अवचेतन मन हैं। ये मस्तिष्क को भी प्रभावित करती हैं

इसलिए मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान हैं।

अचेतन मन – मन का वह भाग, जिसके बारे में व्यक्ति प्रयास करे तो भी उसे ज्ञात नहीं होता। इसे चेतन की गहराई का भी नाम दिया जाता है। फ्रायड़ का विचार है कि व्यक्ति अपने जीवन काल में जिन–जिन इच्छाओं का दमन कर देता है, वे इच्छाएँ चेतन मन से निकल कर अचेतन में प्रवेश कर वहीं संरक्षित रहती हैं और इन्हीं दमित इच्छाओं से चेतन मन का विकास भी होता है। अचेतन मन और अवचेतन मन के बीच एक "सेन्सर" जैसा द्वारपाल रहता है, जो अचेतन मन में पड़ी दमित इच्छाओं को अवचेतन अथवा चेतन मन में आने से रोकता है। हमारा अचेतन मन बहुत प्रबल होता है। जब सेन्सर के कारण अचेतन मन अव्यक्त इच्छाओं को प्रकट करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह इन इच्छाओं को ऐसा स्वरूप प्रदान कर देता है, जो चेतन मन को स्वीकार हो। अधिकांश मनोरोगों का कारण अचेतन में पड़ी अव्यक्त इच्छाएँ हैं। फ्रायड़ के अनुसार अचेतन मन की क्रियाएँ नीति तथा समाज विरूद्ध एवं वासनाजन्य होती हैं। इनका संचालन वासना के नियम के अनुसार होता है।

मन एक तरंग है। ध्यान की स्थिति में मन का सर्वथा विलय हो जाता है। इस स्थिति में मन अमन बन जाता है। यह स्थिति एक दिन नहीं, वर्ष भर रह सकती है।

मनोभाव – भाव हमारे व्यक्तित्व के गहनतम अन्तराल का एक स्रोत हैं। जैसा भाव होता है वैसा ही मन हो जाता है। भाव के साथ मन चलता है, मन के साथ भाव नहीं चलता। हमारा सारा अस्तित्व भाव से जुड़ा हैं। हमारी सारी अभिव्यक्ति भाव के कारण हो रही है। भाव शरीर, मन और वाणी को प्रभावित करते हैं।

बुद्धि और मन– बुद्धि मन से अलग वस्तु है। मन इन्द्रियों की सहायता से अपना कार्य करता है। बुद्धि मन की सहायता से अपना कार्य करती है। बुद्धि सहजात होती है, जन्म के साथ उत्पन्न होती है। बाद में उसका विकास नहीं होता। जन्मकाल में जितनी बुद्धि होती है, उतनी ही रहती है, वह न घटती है और न बढ़ती है। निर्णय करना, विवेक करना बुद्धि का काम है। मन का काम इन्द्रियों के द्वारा जो प्राप्त होता है, उसका संकलन और विश्लेषण करना मात्र है। किन्तु जो नया ज्ञान उत्पन्न होता है वह सारा बुद्धि के द्वारा होता है।

3.5 चित

चित मन से अलग है चित मन का नियामक है। मन की एकाग्रता और

व्यग्रता चित पर निर्भर है। एक ही चित क्षेत्र भेद और कार्य भेद के कारण तीन भागों में विभक्त हो जाता है – अध्यवसाय, भाव और स्थूल चेतना या बुद्धि। ये सब एक ही चेतना के विभाग हैं । अध्यवसाय चित के बारे में पूर्व में बताया गया है। चित का अर्थ है– स्थूल शरीर के साथ काम करने वाली चेतना और मन का अर्थ हैं– उस चित के द्वारा काम कराने के लिए प्रयुक्त तंत्र। मन क्रियातंत्र हैं और चित चैतन्य तंत्र। मन पौद्गलिक हैं, चित आत्मिक हैं, चेतन है। मन चंचल है, स्थिर नहीं हो सकता। चित स्थिर हो सकता हैं। चित स्थायी तत्व हें, मन स्थायी तत्व नहीं है। मन उत्पन्न होता है, विलीन हो जाता है।

चित की दो अवस्था हैं – समाहित और विक्षिप्त। विक्षिप्त चित दुःख पैदा करता है। जब चित समाहित होता है तो दुःख समाप्त हो जाता है। जब हमारी चेतना काम केन्द्र की और अधिक बहने लगती है तब सहज की ज्ञान केन्द्र की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। साधना में इसे उलटना होता है। मन की गति मस्तिष्क की ओर कर दें, प्राण धारा का प्रवाह उपर की ओर कर दें तो ज्ञान केन्द्र को सिंचन मिलेगा और ज्ञान पुष्ट होगा। यह ऊर्जा जो ऊपर की ओर जाती है उसे, कुंडलिनी का जागरण कहें या विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि कहें, कुछ भी कहा जा सकता है। यही चित का जागरण है।

3.6 समीक्षा

आत्म चेतना हमारे सभी शरीरों में अभिव्यक्त होती है। आत्मा के स्पन्दन कार्मण शरीर के वलय से बाहर अध्यवसाय के रूप में आते हैं। ये अध्यवसाय कषायरंजित होते हैं, परन्तु ये हमारे ज्ञान के प्रमुख स्रोत भी हैं। आगे बढने पर अध्यवसाय सीधे स्थूल शरीर में भी अभिव्यक्त होते हैं या पहले तैजस शरीर में और वहाँ से स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं। सीधे स्थूल शरीर में जाने पर वे मस्तिष्क में चित का निर्माण करते हैं। तैजस शरीर के सम्पर्क में आने पर अध्यावसाय लेश्या के रुप में परिवर्तित हो जाते हैं। लेश्या ही हमारी भावधारा का निर्माण करती हैं। भावधारा हमारे अंतःस्रावी ग्रंथितंत्र को प्रभावित करती है। इस प्रकार इन ग्रंथियों का स्राव हमारे कर्मों के विपाक का परिणमन है। भाव और चित का भी आपस में सम्पर्क होता है और वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। भाव हमारे विचारों का आधार हैं। अध्यवसाय सब प्राणियों में होता है।

लेश्यातंत्र हमारा सबसे बड़ा संस्थान है और यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच में सम्पर्क सूत्र का काम करता है। लेश्या दो प्रकार की होती हैं – द्रव्य

लेश्या और भाव लेश्या। रंग के आधार पर लेश्या छः प्रकार की होती हैं। – कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या। कृष्ण, नील और कापोत अशुभ लेश्या है और तेजो, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्या हैं। किसी एक समय में जीव के एक लेश्या ही होती है। हर लेश्या के अलग–अलग वर्ण, रस, गंध और स्पर्श गुण हैं। हमारे भावों और विचारों का संबंध रंग से है, रंगों के आधार पर मनुष्य के मनोभावों को पहचाना जा सकता है।

चेतना का बाह्य दिशा में प्रवाहात्मक अस्तित्व मन है। मन अस्थायी तत्व है, वह केवल मनन के समय ही होता है। एक समय में एक मन होता है। मन ज्ञानात्मक है, परन्तु पौद्गलिक है। मन दो प्रकार का है – द्रव्य मन और भाव मन। भाव मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। मन के द्वारा आत्म तत्व और भौतिक तत्व के बीच संबधं बनता है। मन का कार्य है– संकल्प और विकल्प। मन की क्रिया से ही संस्कार बनता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ मन के विषय बनते हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। मन के रूप हैं – चेतन मन, अवचेतन मन और अचेतन मन। बुद्धि मन से अलग है। निर्णय करना, विवेक करना बुद्धि का काम है।

शरीर आत्म मुक्ति का साधन है, बिना शरीर के जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकती। मन,वचन, काया की प्रवृति के लिए, जिस जटिल प्रकार के शरीर की आवश्यकता होती हैं, उसका कोई अन्य उदाहरण इस विश्व में नहीं हैं। मनुष्य शरीर, और उसमें भी स्त्री शरीर, की बनावट और उसकी क्रियाएँ को देख कर आश्चर्य चकित ही रह जाना पड़ता है। यह आत्मा ही है जो ऐसी अद्भुत मशीन का निर्माण और क्रियान्वयन कर सकती है। इस स्थूल शरीर के क्रियान्वयन के लिए ही आत्मा सूक्ष्म शरीर का निर्माण करती है, आत्मा अमूर्त होने से सीधे–सीधे स्थूल पदार्थ से काम लेने में असमर्थ है। सबसे पहले सूक्ष्मतम पदार्थ कार्मण वर्गणा से कार्मण शरीर का निर्माण करती है और साथ ही साथ उससे कुछ स्थूल तैजस शरीर का निर्माण करती है। अन्त में स्थूल शरीर धारण करती है। इन तीनों शरीरों के बीच सम्पर्क और संबंध बनाए रखने के लिए उपयुक्त तंत्र का भी विकास करती है। सूक्ष्म शरीर के तंत्र भी सूक्ष्म हैं और स्पंदन रूप हैं। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सम्पर्क भी कम्पनों के माध्यम से ही होता है।

आत्मा का मुख्य सम्पर्क साधन अध्यवसाय है। कार्मण और तैजस शरीर के बीच तथा कार्मण और स्थूल शरीर के बीच सम्पर्क सूत्र अध्यवसाय है। तैजस शरीर और स्थूल शरीर के बीच सम्पर्क सूत्र लेश्या है। इसके अतिरिक्त आत्मा चित और मन का भी निर्माण करती है जो स्थूल शरीर के क्रियान्वयन में सहायक होते हैं। यह

शरीरों का क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा मुक्त नहीं हो जाती।

3.7 संदर्भ

1. चित और मन — आचार्य महाप्रज्ञ
2. जीवन विज्ञान की रूपरेखा — अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, मुनि धर्मेश
3. धवलासार — ब्र. विमला जैन

अध्याय 4

प्राण और प्राणशक्ति

4.1 प्राण तत्व

योगशास्त्र के अनुसार प्राण का अर्थ ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त ऐसी उर्जा है, जो जड और चेतन दोनों का समन्वित रुप है। प्राण को तत्वदर्शियों ने दो भागों में विभक्त किया है:–(1) अणु (2) विभु। अणु वह है जो पदार्थ जगत में सक्रियता बनकर परिलक्षित होता है। विभु वह है जो चेतन जगत में जीवन बनकर लहलहा रहा है। अणु शक्ति को लेकर ही पदार्थ विज्ञान का सारा ढांचा खडा किया गया है। विद्युत, ताप, प्रकाश, विकिरण आदि की अनेकानेक शक्तियाँ उसी स्रोत से गतिशील रहती हैं। अणु के भीतर जो सक्रियता है वह सूर्य की है, यदि सूर्य का प्रकाश पृथ्वी तक न पहुँचे तो यहाँ नीरवता स्तब्धता ही परिलक्षित होगी। कहीं कुछ भी हलचल दिखाई न पडेगी। अणुओं की जो सक्रियता, पदार्थों का आर्विभाव, अभिवर्धन एवं परिवर्तन करती है, उसका कोई अस्तित्व दिखाई न पडेगा। भौतिक विज्ञान ने इसे सूर्य द्वारा पृथ्वी को प्रदत अणुशक्ति के रुप में पहचाना है और उससे विभिन्न प्रकार के आविष्कार करके सुख साधनों का आर्विभाव किया है। शक्ति के कितने ही प्रचण्ड स्रोत करतलगत किए हैं। पर यह नहीं मान बैठना चाहिए कि विश्वव्यापी शक्ति भण्डार मात्र अणुशक्ति की भौतिक सामर्थ्य तक ही सीमाबद्ध है। वस्तुतः यह विपुल सम्पदा इससे भी कई गुना अधिक है, जड चेतन सभी में समान रुप से संव्याप्त है।

जड जगत में शक्ति तरंगों के रुप में संव्याप्त सक्रियता के रुप में प्राण का परिचय दिया जा सकता है और चेतन जगत में उसे सम्वेदना कहा जा सकता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इसी सम्वेदना के तीन रुप हैं। जीवन्त प्राणी इसी के आधार पर जीवित रहते हैं। उसी के सहारे चाहते, सोचते और प्रयत्नशील होते हैं। इस जीवनी शक्ति की जितनी मात्रा जिसे मिल जाती है, वह उतना ही अधिक प्राणवान कहा जाता है, आत्मा को महात्मा, देवात्मा को परमात्मा बनने का अवसर इस प्राणशक्ति की अधिक मात्रा उपलब्ध करने पर ही सम्भव होती है। चेतना की विभु सता जो समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है, चेतन प्राण कहलाती है। उसी का अमुक अंश प्रयत्नपूर्वक अपने में धारण करने वाला प्राणी प्राणवान और महाप्राण बनता है।

मानवी शरीर एक शक्तिशाली यंत्र है और उसके सुसंचालन में जिस उर्जा की आवश्यकता होती है वह एक प्रकार की विशिष्ट विद्युत ही है। अध्यात्म की भाषा

में इसे ही 'प्राण' कहते हैं। यह एक अग्नि है जिसे ज्वलन्त रखने के लिए इंधन की आवश्यकता पडती है। प्राण रुपी शरीराग्नि आहार से ज्वलन्त बनी रहती है। प्राणियों में संव्याप्त इस उर्जा को वैज्ञानिकों ने 'जैव विद्युत' नाम दिया है। 'जैव विद्युत' उस भौतिक बिजली से सर्वथा भिन्न है जो विद्युत यंत्रों को चालित करने के लिए प्रयुक्त होती है। 'ट्रासफारमेशन आफ एनर्जी' सिद्धान्त के अनुसार मानवी विद्युत सूक्ष्मीभूत होकर प्राण उर्जा और आत्मिक उर्जा के रुप में संगृहीत और परिशोधित परिवर्तित हो सकती है। इस ट्रासफारमेशन के लिए ही प्राणानुसंधान करना और प्राण साधना का अवलम्बन लेना पडता है।

विज्ञानवेत्ताओं ने इस संसार में ऐसी शक्ति का अस्तित्व पाया है जो पदार्थों को हलचल करने के लिए और प्राणियों को सोचने के लिए विवश करती है। कहा गया है कि यही मूल प्रेरक शक्ति है जिससे निःचेष्ट को सचेष्ट और निस्तब्ध को सक्रिय होने की सामर्थ्य मिलती है। वस्तुएँ, शक्तियाँ और प्राणियों की विविध हलचलें इसी के प्रभाव से संभव हो रही हैं। समस्त अज्ञात और विज्ञात क्षेत्र के मूल में यही तत्व गतिशील है और अपनी गति से सबको अग्रगामी बनाता है। वैज्ञानिको की दृष्टि में इसी जड चेतन स्तरों की समन्वित क्षमता का नाम प्राण होना चाहिए। पदार्थों को ही सब कुछ मानने वाले ग्रेविटी, ईथर, मेगनेट के रुप में उसकी व्याख्या करते हैं अथवा इन्ही की उच्च स्तरीय स्थिति उन्हे बताते हैं। चेतना का स्वतंत्र अस्तित्व मानने वाले विज्ञानी उसे साइकिक 'लेटेन्ट हीट' कहते हैं।

विज्ञान को अब विश्वास हो गया है कि वातावरण में संव्याप्त प्राण बिजली के कणों द्वारा आवेशित है, विशेष कर ऋण आयनों द्वारा और शरीर द्वारा ग्रहण किया गया प्राण का शरीर में ही वास्तविक चयापचय होता है। सूर्य और तारे भी प्राणशक्ति को प्रभावित करते हैं। प्राणशक्ति में दो तरह के आयन्स होते हैं:–

(1). ऋण आवेश युक्त, छोटे अधिक क्रियाशील, जो शरीर की कोशिकाओं को शक्ति देते हैं और वायुमण्डल से प्राणियों को प्राप्त होते हैं। स्वच्छ आबोहवा में प्रत्येक बडे आयन के साथ दो या तीन ये छोटे आयन्स होते हैं। ऋण आयन्स, धूल, धुआँ, कोहरा और गन्दी हवा से नष्ट हो जाते हैं।

(2). बडे, मन्द, अनेक अणुओं के न्युक्लियस वाला आयन। ये गन्दे स्थानों पर अधिक होते हैं। ये वातावरण से छोटे आयन्स में मिल जाते हैं और अनेक आयन्स के मेल से बडे आयन्स बनाते हैं। इनके बढने से क्रियाशील (प्राणवान) छोटे आयन्स वातावरण में कम हो जाते हैं। बडे आयनों की अधिकता के कारण ही शहर की हवा प्राणवान और स्फुर्तिदायक नही होती। धूल, कल–कारखानों एवं कारों से निकलने

वाली गैस के समान ही हानिकारक हैं क्योंकि यह प्राण को नष्ट कर देती है। एयर कन्डीशन्स जगहों में भी प्राण नही पाए जाते, सिर्फ धुल का प्रवेश वहाँ रुकता है। धुआँ, और कोहरा भी इसी तरह प्राणहीन होते हैं।

प्राणशक्ति का मुख्य स्त्रोत सूर्य के शार्ट वेव्ह इलेक्ट्रोमेगनेटिक रेडिएशन्स हैं। वातावरण के क्रियाशील ऋण आवेशित आयन्स इसी के परिणाम हैं। यही मनुष्यों, जीव–जन्तुओं, वनस्पति, पेड–पोधौं, अणु–परमाणुओं, प्रोटोन्स, न्युट्रान्स एवं समस्त पदार्थों की प्राणशक्ति (जीवनी शक्ति) है। प्राणवान ऋणात्मक आयनों का दूसरा प्रमुख स्रोत ब्रह्माण्डीय किरणें हैं जो लगातार दिन रात आती हैं।

ये शक्तिशाली ऋण आवेशी आयन्स पानी के लहराने और वाष्पीकरण से भी अधिक मात्रा में निकलते हैं, इसीलिए समुद्री हवा उत्साहवर्द्धक होती है। समुद्री तूफानों और धूल की अनुपस्थिति में भी ये अधिक होते हैं। समुद्र के किनारों और समुद्र में हम प्राण से स्नान करते हैं और इससे हमारे क्रियाशील एवं अति सम्वेदना वाले अंग अधिक पुष्ट होते हैं। चिडचिडे और स्नायविक लोगों को भी समुद्री हवा लाभप्रद है। प्राणायाम का उददेश्य भी इस क्रियाशील आयन्स की शक्ति को ग्रहण करना, उन्हे अन्यान्य अंगो में भेजना एवं शक्ति अर्जित करना है।

अन्न और जल के चयापचय प्रणालियों की तरह मानव शरीर में विद्युत (प्राण) के चयापचय की प्रणाली भी है। पाश्चात्य वैज्ञानिक वालेस के अनुसार मनुष्य इस प्राणशक्ति के क्रियाशील ऋण आवेशी आयन्स को प्राप्त करके ऋण आवेशी हो जाता हैं। इस प्राण प्रणाली की शक्ति पर ही दूसरी प्रणालियाँ काम करती हैं। श्वास द्वारा ली गई वायु से मनुष्य इन ऋण आवेशी आयन्स को तब तक ग्रहण करता है, जब तक वे अधिक होने के कारण त्वचा से बाहर नही निकलते। वालेस ने अपने प्रयोगों में पाया है कि हमारे अंग ऋण आवेशी आयनों से क्रियाशील रहते हैं और इनकी वृद्धि से उनकी जीवनी शक्ति बढती, स्फुर्ति एवं साहस में वृद्धि होती है। इस तरह पाश्चात्य विज्ञान पूर्णतः भारतीय योगियों के प्राण संबंधी सिद्धान्तों की पुष्टि करता है।

डा. वालेस के अनुसार मानव शरीर में बिजली (प्राण) के चपापचय से अनेक बाते मालूम होती हैं। ऋण आयन्स का पाचन शरीर के अंगो को क्रियाशील रखने के लिए अति आवश्यक है और क्षतिग्रस्त आयनों का शरीर से निष्कासन भी उतना ही जरुरी है।

वालेस का कथन है कि यह प्राण सूर्य की अल्ट्रावायलेट किरणों (परा बैंगनी किरणों) की फोटोकेमिकल (प्रकाश रसायन) क्रिया के द्वारा प्राप्त होता है। सूर्य स्नान

हमारे विद्युत चपापचय को क्रियाशील बनाकर हमें अधिक शक्ति (स्फूर्ति) देता है। शरीर को पृथ्वी से पृथक् (इन्सुलेटेड) नहीं रखना चाहिए क्योंकि लगातार क्रियाशील ऋण आयन्स का प्रवाह तब शरीर में नहीं हो सकेगा। प्राणियों के फरवाली चमड़ी से उनमें प्राण अधिक आकर्षित होता है और सुरक्षित बना रहता है। मनुष्य के शरीर में कपड़े पहनने से वह इन्सुलेटेड हो जाता है। अच्छा यही है कि प्राणायाम की विज्ञान सम्मत प्रक्रिया हर क्षण अपनाते रहा जाय।

योगियों के अनुसार प्राण हवा में है किन्तु यह ऑक्सीजन, नाइट्रोजन या अन्य कोई रासायनिक गैस नहीं है। प्राण भोजन में है किन्तु यह कोई विटामिन नहीं है। प्राण सुर्य किरणों में है किन्तु यह कोई पराबैंगनी या अन्य प्रकार की कोई किरणें नही है। भोजन, पानी, सूर्य किरणें, हवा ये सभी बाह्य प्राण के संवाहक हैं जिन पर सम्पूर्ण जीव–जगत आधारित है। बाह्य प्राण सम्पूर्ण शरीर में गतिशील होता है। प्राण हमारे जीवन का वास्तविक पोषण है। इसके बिना जीवन संभव नहीं। हमारी क्षमताएँ भी प्राण का ही सूक्ष्म और विशिष्ट रुप हैं। जीव प्राण के माध्यम से जीवन्त बनता है।

सोवियत रुस के वैज्ञानिक डा. जी. ए. उशाकोव ने अपने ध्रुव शोध के विवरणों में एक और नया तथ्य प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं कि जीवन का आधार मानी जाने वाली ऑक्सीजन वायु पृथ्वी की अपनी उपज अथवा संपति नहीं है। वह सूर्य से प्राण रुप में प्रवाहित होती हुई चली आती है और धरती के वातावरण में यहाँ की तात्विक प्रक्रिया के साथ सम्मिलित होकर प्रस्तुत ऑक्सीजन बन जाती है। यदि सूर्य अपने उस प्राण प्रवाह में कटौती करे अथवा पृथ्वी ही किसी कारण उसे ठीक तरह ग्रहण न कर सके तो ऑक्सीजन की न्यूनता के कारण धरती का जीवन संकट में पड सकता है। पृथ्वी से 100 किलोमीटर ऊँचाई पर यह प्राण का ऑक्सीजन रूप में परिवर्तन आरम्भ होता है। यह ऑक्सीजन बादलों की तरह चाहे जहाँ नही बरसता रहता, वरन वह भी सीधा उत्तरी ध्रुव पर आता है और दक्षिणी ध्रुव के माध्यम से समस्त विश्व में वितरित होता है। ध्रुव प्रभा में रंग–बिरंगी झिलमिल का दिखना विद्युत मंडल के साथ ऑक्सीजन की उपस्थिति का प्रमाण है।

डा. उशाकोव और अन्य वैज्ञानिकों का कथन प्रश्नोपनिषद के कथन से मेल खाता है। प्रश्नोपनिषद में महर्षि पिप्पलाद कहते हैं कि सृष्टि के आदि में परमेश्वर की जन प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई तो उन्होने सर्वप्रथम रयि और प्राण इन दोनों का जोडा उत्पन्न किया। इसमें सबको जीवन प्रदान करने वाली समष्टि जीवनी शक्ति का नाम 'प्राण' रखा गया। प्रकृति के स्थूल स्वरुप भूत समुदाय का नाम 'रयि' रखा गया, जो प्राणरुप जीवनी शक्ति से अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। प्राण

चेतना है, रयि शक्ति और आकृति है। सम्पूर्ण जगत प्राण और रयि के संयोग या सम्मिश्रण से बना है। इन्हीं को अन्यत्र अग्नि और सोम के नाम से कहा गया है। यद्यपि इन्हे पृथक् – पृथक् करके नहीं बताया जा सकता पर यह समझना चाहिए कि यह सूर्य जो हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, यही प्राण है, क्योंकि इसी में सबको जीवन प्रदान करने वाली चेतना शक्ति की प्रधानता और अधिकता है। यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनी शक्ति का घनीभूत स्वरुप है। ऋषि आगे कहते हैं कि प्राणियों के शरीर में जो वैश्वानर नाम से कही जाने वाली जठराग्नि है, जिससे अन्न का पाचन होता है, वह सूर्य का अंश है, अतः सूर्य ही है। तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पाँच रुपों में विभक्त प्राण है, वह भी इस उदय होने वाले सूर्य का ही अंश है, अतः सूर्य ही है। यह सर्वश्रेष्ठ प्राण अपने अंगस्वरुप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणों को शरीर के पृथक्–पृथक् कार्य के लिए नियुक्त कर देता है।

सुप्रसिद्ध अमेरिकी अणु वैज्ञानिक श्रीमती जे. सी. ट्रस्ट ने प्राण सता के अदभुत प्रयोगों का प्रदर्शन किया। कर्नल टाउनसेंड ने प्राणमय शरीर के नियंत्रण में सफलता प्राप्त की। वे स्वयं एक स्थान पर बैठ गये। ब्लेक बोर्ड के साथ चाक बाँध दी गयी। इसके बाद उन्होने अपना प्राण शरीर से बाहर निकालकर अदृश्य शरीर से ब्लेकबोर्ड पर बोले हुए अक्षर लिखे, सवाल हल किए। बीच बीच मे वे अपने शरीर मे आ जाते और वस्तुस्थिति भी समझाते जाते। डा. वानडेन फ्रेंक ने पाया कि सिर का वह स्थान, जहाँ हिन्दु लोग चोटी रखते हैं, प्राण शरीर से सम्बन्ध रखता है। यही से हृदय और रक्त विसरण की क्रियाएँ भी सम्पन्न होती हैं।

न्यूट्रिनों, फोटोन व ग्रेविटोन परमाणु कणों में गुरुत्वाकर्षण बल कार्य नहीं करता। यह कण प्रकाश जैसी सत्ता के ही अनुकण हैं। प्राण के अनुकणों में भी ऐसी क्षमता होती है, जो स्थूल कणों को भी गुरुत्वाकर्षण से मुक्त कर सकती है, उस स्थिति में आकाश गमन की सिद्धि को असत्य नही कहा जा सकता। इटली के एक पादरी जोसेफ ने अपने समय में हवा में उड सकने की क्षमता प्रदर्शित की।

मैस्मरेज्म के आविष्कर्ता है– जर्मनी के डा. फासिस्कस एंटोनियम मैस्मर। वियना मे उन्होने चिकित्साशास्त्र पढ़ा और उपाधि प्राप्त की। उन्होने एक महत्वपूर्ण शोध निबंध प्रस्तुत किया था, जिसमे बताया गया था कि अविज्ञात नक्षत्रों से एक तरल चुम्बकीय पदार्थ इस धरती पर आता है और उससे हम सब प्रभावित होते हैं। इस पदार्थ का संतुलन यदि शरीर में गडबडाने लगे तो शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। यदि किसी प्रकार यह चुम्बकीय संतुलन ठीक कर दिया जाए तो बिगडा हुआ स्वास्थ्य फिर ठीक हो जाता है।

प्राण या जीवनी शक्ति एक सनातन तत्व है, जो विस्फोट के कारण ब्रह्मण्ड के किसी केन्द्र पिंड से बहता हुआ सारे विश्व में नाना प्रकार की रचनाओं के रूप में व्यक्त हो रहा है। अब यह सिद्ध होता जा रहा है कि जीवनी शक्ति विद्युत चुंबकीय तत्व है, वहाँ उसके सूर्य लोक से निःसृत होने के प्रमाण भी वैज्ञानिकों को मिल रहे हैं। गायत्री उपासना के समय सविता के ध्यान से हमारे मस्तिष्क का चुम्बकत्व सूर्य के प्रकाश कणों के चुम्बकत्व को आकर्षित करता और ग्रहण करता हुआ हमारी जीवनी शक्ति – प्राण को बढ़ाता रहता है।

4.2 मनुष्य शरीर में प्राण

मनुष्य शरीर में दस जाति के प्राणों का निवास है। इनमें से पाँच महाप्राण और पाँच को लघु प्राण कहते हैं। (1) प्राण, (2) अपान, (3) समान, (4) उदान, (5) व्यान यह पाँच महाप्राण हैं।(1) नाग, (2)कुर्म, (3) कृकल, (4) देवदत, (5) धनंजय, यह पाँच लघु प्राण हैं। प्राण तत्व एक प्रकार की विद्युत शक्ति के समान है। बहते हुए पानी मे जैसे भ्रमरों के गड्ढे पड़ते हैं, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं, जिनके साथ प्राण का सम्मिश्रण होने से एक विशेष प्रक्रिया की जाती है। पाँच महाप्राणों को "ओजस" और पाँच लघुप्राणों को "रेतस" कहते हैं। दोनों प्राण एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं।

"प्राण वायु" का निवास स्थान ह्रदय है। "नाग" भी उसके समीप रहता है। "अपान" गुदा ओर मूत्रेन्द्रिय के बीच में मूलाधार के निकट रहता है, उसी के पास "कुर्म" लघुप्राण का निवास है। "समान" और "कृकल नाभि में रहते हैं। "उदान" और "देवदत" का स्थान कंठ है। "धनंजय" में आकाश तत्व का अधिक मिश्रण रहने से यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है, पर उसका प्रधान केन्द्र मस्तिष्क का मध्य भाग है।

साधारणतः ऐसा माना जाता है कि प्राण के द्वारा शब्द एवं मस्तिष्क का पोषण होता है। अपान मे मलमूत्र, स्वेद आदि का विसर्जन होता है। समान से पाचन, परिपाक और उष्णता का संचार होता है। उदान विविध वस्तुएँ बाहर से शरीर के भीतर ग्रहण करता है। व्यान का काम रक्त संचार है। लघु प्राणों मे नाक से डकार आती है। कूर्म से पलक मारने और बन्द होने की क्रिया होती है। कृकल से छींके और देवदत से जंभाई आती है। धनंजय जीवित अवस्था मे शरीर का पोषण करता है और मरने पर देह सड़ा–गला कर शीघ्र नष्ट करने का प्रबन्ध करता है।

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर जिस स्थान पर जिस प्राण का निवास बताया गया

हैं वहाँ शरीरगत वायु और प्राण की उष्णता के कारण एक प्रकार के भ्रमर चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। भ्रमर सदा उपर चौड़े होते हैं और नीचे की तरफ ढलवाँ होते जाते हैं तथा अन्त में बहुत ही छोटे नोक वाले रह जाते हैं। ऊपर के सबसे चौड़े भाग को 'स्तर' और नीचे से सबसे नुकीले भाग को 'बिन्दु' कहते हैं। इसी प्रकार प्राणवायु के भ्रमर का उर्ध्व भाग महाप्राण और अधो भाग लघु प्राण कहा जाता है। एक स्तर है तो दूसरा बिन्दु। वस्तुतः दोनों एक ही महातत्व के दो विभाग मात्र हैं।

वस्तुतः प्राण का कार्य जीवन चलाना है। ह्रदय की धड़कन जीवन का प्रतीक है। प्राण के द्वारा ह्रदय की धड़कन होती है फिर उससे रक्त संचार होता है, सांस आ जाती है। इसके बाद शरीर की अन्य क्रियाएँ होती हैं। प्राण में शिथिलता आने पर जीवन शक्ति घट जाती है और अत्यन्त न्यून हो जाने पर ह्रदय की धड़कन बन्द हो जाती है।

समाधि लगाने वाले महात्माओं का प्राण पर अधिकार होता हैं ये दीर्घकाल तक निस्तब्ध रहने पर जब चाहते हैं तब शरीर से प्राण का स्पन्दन बढ़ा कर ह्रदय का धड़कना आरम्भ कर देते हैं और साधारण जीवन जीने लगते हैं। जब तक उनका प्राण खींचकर ब्रह्माण्ड में संचित किया रहता है तब तक ह्रदय की धड़कन बन्द रहती है और शरीर मृततुल्य हो जाता है इसलिए उनको दीर्घकालीन समाधि सुख मिलता रहता है। प्राण अधिकार करके दीर्घकाल तक जीवन स्थिर रखना, मृत्यु को इच्छानुवर्ती बना लेना सम्भव है। एक मनुष्य दूसरे को प्राण–दान दे सकता है, जैसे एक मनुष्य का रक्त दूसरे के शरीर में प्रवेश करके उसे जीवन एवं मनोबल दे सकता है।

"अपान" का कार्य स्थूल मलों का ठीक प्रकार विसर्जन करना है। देह के भीतर सदा पैदा होने वाले मल, मूत्र, पसीना, कफ, कीचड़, विष, विजातीय पदार्थ आदि त्याज्य पदार्थो को अपान अनेक छिद्रों द्वारा शरीर से बाहर निकलता रहता है। यदि अपान अपनी यह क्रिया न करे तो शरीर में मल निकलने की शक्ति घट जायेगी और अपच, जुकाम आदि अनेक रोग पैदा हो जायेंगें। इसके अतिरिक्त अपान की सूक्ष्म क्रिया जननेन्द्रिय में होती है। काम–वासना का आधार इसी पर निर्भर है। यह यदि शिथिल हो जाय तो तरूण पुरूष भी नपुंसक हो जायगा। अपान का सहवर्ती "कुर्म" लघुप्राण यदि सुषुप्त अवस्था में होगा तो शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ होने पर भी गर्भ की स्थापना कदापि न हो सकेगी। पुरूष में अपान और स्त्री में कूर्म प्रधान होता है जो अनेक शारीरिक और मानसिक अभावों की पूर्ति करता है।

"समान प्राण उदर में नाभि के नीचे रहता है। पाचन इसका मुख्य कार्य है।

गर्मी, उष्णता एवं पित को समान का प्रतीक कहते हैं। शरीर में चंचलता, स्फूर्ति, उत्साह, छरहरापन एवं चमक इसी के कारण होती है। त्वचा की चिकनाई, कोमलता, चमक में कृकल – प्राण का अस्तित्व परिलक्षित होता है। खूब भूख लगना, अधिक आहार करना, जल्दी पचा लेना, सर्दी के प्रभाव से व्यथित न होना समान की विशेषता हैं। जिनमें यह प्राण कम होगा वे सर्दी बर्दास्त न कर सकेंगें। ऐसे लोगों का जरा से भोजन से पेट भर जाता है। "समान" की न्यूनता के कारण शरीर में उष्णता कम रहती है, उसकी पूर्ति गरम मौसम से हो जाती है। ऐसे लोगो की नाड़ी पतली चलती है।

समान–प्राण का स्वास्थ्य से बड़ा संबंध है। इन्द्रियों की रसानुभूति समान के आधार पर घटती बढ़ती रहती है। स्वादिष्ट पदार्थ, मनोरम दृष्टि, मधुर ध्वनि, सुखद स्पर्श, सुरभित गंध को भली प्रकार ग्रहण करने और इससे आनन्दित होने की क्षमता "समान" प्राण वालों मे होती है। जिसका "समान" घट जायगा वह सब प्रकार की सुखद परिस्थिति होते हुए भी खिन्न, असन्तुष्ट एवं झुंझलाया रहेगा, देह का कोई न कोई अंग बीमारी का कष्ट पाता रहेगा। ऐसे लोगो को सन्निपात, मोतीझला आदि तीव्र रोग तो नहीं होते, पर जुकाम, खाँसी, पेट का भारीपन, सिरदर्द, दांतो का हिलना, आँखों की कमजोरी, देह का टूटना, थकान जैसे मन्द रोग घेरे रहेंगें। एक से पीछा छूटने से पहले ही दूसरा नया उत्पन्न हो जायगा।

"समान" पित्त का प्रतीक है। "कृकल" कफ का प्रतिनिधि है। दोनों के मिलने से वाद बनता है। इन तीनों के उलझने – सुलझने और घटने बढ़ने से बीमारी और तन्दुरस्ती का चक्र घूमता है। कहा जाता है कि बीमारी की जड़ पेट में है इसका अर्थ यही है कि नाभि चक्र के निवासी "समान" और "कृकल" ही हमारे स्वास्थ्य के अधिपति हैं। इन पर अधिकार होने से चिरस्थायी स्वास्थ्य का स्वामित्व प्राप्त होता है।

"उदान" प्राण का निवास कण्ठ है। यह श्री और समृद्धि का स्थान है। लक्ष्मी जी का केन्द्र कण्ठ कूप की "स्फूटा" ग्रंथि को माना गया है। लक्ष्मीजी की पूजा एवं "स्फूटा" के उतेजन से निर्मित कण्ठ में स्वर्णाभूषण धारण किए जाते हैं। "स्फूटों" पर धातुओं और रत्नों का जो प्रभाव पड़ता है उसे जानने वाले गले में रत्न, कवच, आभूषण एवं मालायें बनाकर कण्ठ में धारण करते हैं और उनके सूक्ष्म परिणामों से लाभान्वित होते हैं।

"उदान" के परिपूर्ण होने से मनुष्य को वे योग्यताएँ, सामर्थ्य, शक्तियाँ, विशेषताएँ एवं चतुरताएँ प्राप्त होती हैं, जिनके कारण सांसारिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती रहती हैं। जिनकी "स्फूटा ग्रंथि जागृत है वे कभी

भी अभावग्रस्त नहीं रह सकते, उनकी हर उचित आवश्यकता समय पर पूरी हो जाती है।

"देवदत्त" सूक्ष्म प्राण आध्यात्मिकता और सम्प्रदायों का स्वामी है। अष्ट सिद्धियाँ, नव निधियाँ "देवदत्त" से संबंधित हैं। शाप– वरदान, दूर–दर्शन, दूर–श्रवण, अणिमा, महिमा, लधिमा आदि चमत्कारों का केन्द्र यही है।

अमीर, सम्पन्न, बड़े आदमी, व्यापारी, धनी, लक्ष्मीपति बनना, वैसे घर में जन्म पाना, वैसी आकस्मिक सहायतायें प्राप्त होना, वैसे अवसर, सुझाव या मित्र मिल जाना उदान–प्राण के शक्तिशाली होने पर निर्भर है। जब यह प्राण निर्बल हो जाता है तो लक्ष्मी विदा होते देर नहीं लगती है ऐसे गलत कदम उठ जाते हैं, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण घाटे पर घाटा होने लगता है, चोट पर चोट लगती है और मनुष्य कुछ दिनों में निर्धन एवं दीन–हीन बन जाता है।

जब तक स्फूटा जागृत रहती है, तब तक बड़ी–बड़ी हानि होने पर भी स्थायी रूप से दरिद्रता नहीं आ सकती। कारण यह है कि स्फूटा में उदान प्राण के सम्पर्क से एक ऐसी चैतन्य स्फुरणा उत्पन्न होती है जो अदृश्य लोक में छिपे हुए भविष्य का परिचय पाती रहती है। उसे अज्ञात रूप से अनायास ही ऐसा आभास होता रहता है कि यह करना ठीक हैं और यह करना अनिष्टकारक होगा। एक अज्ञात शक्ति उसका पथ प्रदर्शन करती सी मालूम होती है। वह खतरों से बचाती है, आगे बढ़ने का मार्ग बताती है और कठिन परिस्थितियों में सहारा देती है, जिससे कि डूबता हुआ बेडा पार हो जाता है। उदान द्वारा चैतन्य "स्फूटा" को शरीर–वासिनी लक्ष्मी कहा जाता है।

जिसका कण्ठ – कूप का "देवदत्त" प्रबुद्ध होता है, ऐसा पुरूष महा चमत्कारी, परमसिद्ध पुरूष बन जाता है। वह चाहे तो प्राण बल से अद्‌भुत उथल–पुथल उत्पन्न कर सकता हैं।

"व्यान" का स्थान मस्तिष्क का मध्य भाग है। यह चार अन्य प्राणों का नियन्त्रण करता है। दोनों कानों के बीच एक रेखा खींची जाय और दूसरी रेखा भ्रूमध्य भाग से लेकर सिर के पीछे तक खींचीं जाय तो दोनों जहाँ मिलेगी, वह स्थान त्रिकुटी कहा जायगा। वही ध्यान का स्थान माना जाता है। इसका सहायक "धनंजय" हैं। व्यान को कृष्ण और धनंजय को अर्जुन कहते हैं। मध्य मस्तक में शतदल कमल में अवस्थित जिस अमृतकलश का योगशास्त्रों मे वर्णन है, उसे ध्यान और धनंजय का प्रसाद ही समझना चाहिए।

'व्यान' के प्रबुद्ध होने से ऋृतम्भरा प्रज्ञा मिलती है। ऋृतम्भरा प्रज्ञा उस

उच्च विचारधारा को कहते हैं, जो जीव को आत्मकल्याण की और ले जाती है। सत्कर्म, शुभ संकल्प, सदवृति आदि देवी गुण कर्म स्वभावों का प्रकाश व्यान द्वारा ही होता है। आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन, ब्रह्म प्राप्ति, दिव्य दृष्टि एवं समाधि का केन्द्र व्यान है। व्यान को गरुढ कहा गया है। जिसका व्यान जागृत हो गया उसके मानस में परमात्मा का प्रत्यक्ष विकास परिलक्षित होने लगता है।

मस्तिष्क में अनेक शक्तियों का निवास है। व्यवस्था शक्ति, ग्रहण शक्ति, निर्णय शक्ति, रचना शक्ति, आमोद शक्ति, उपक्रान्ति शक्ति, अनुवर्तन शक्ति आदि अगणित शक्तियाँ मस्तिष्क मे भरी पडी हैं। इस आधार की सुव्यवस्था एवं अव्यवस्था का आधार धनंजय प्राण है। उसमें कुछ मडबाड़ी होने पर लोग मूर्ख, मन्दबुद्धि, चिंतित, दुःखी एवं उलझनों में उलझे रहते हैं। किसी व्यक्ति का पूर्ण मस्तिष्कीय विकास तभी हो सकता हैं जब उसका "व्यान" ठीक हो और उसका मंत्री "धनंजय" जागृत होकर काम करे।

दस प्राणों को सुसुप्त दशा से उठाकर जागृत करने, उसमें उत्पन्न हुई कुप्रवृतियों का निवारण करने, प्राण शक्ति पर परिपूर्ण अधिकार एवं आत्मिक जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिए "प्राणविद्या" का जानना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत बन्ध, मुद्रा और प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है।

प्राण शक्ति में दिव्य शक्तियों का उद्‌भव–योग विज्ञान से निम्न आठ सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं:–

1. अणिमा – शरीर को भार रहित कर लेना।
2. गरिमा – भारी भरकम वजन बढ़ा लेना।
3. लघिमा – शरीर को लघु कर लेना।
4. महिमा – शरीर को वृहदाकार कर लेना।
5. प्राप्त्य – कठिन वस्तुओं की सरलता से प्राप्ति।
6. प्राकाम्य – इच्छा पुर्ति करना।
7. ईशत्व – सर्वज्ञता।
8. वशित्व – सभी को वशवर्ती कर लेना।

ये सभी सिद्धियाँ प्राण शक्ति का ही चमत्कार हैं। इन सिद्धियों का जीवन मुक्ति से सीधा संबंध नहीं है। यह आवश्यक नही है कि सिद्धी प्राप्त योगी जीवन मुक्ति प्राप्त करे। जीवन मुक्ति तो कर्मों के क्षय के पश्चात ही प्राप्त होती है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने निम्न अतीन्द्रिय क्षमताओं को मान्यता दी है:–

1. क्लेयरवॉयेन्स – परोक्ष दर्शन

2. प्रीकॉग्नीशन – भविष्य ज्ञान
3. रेट्रोकॉग्नीशन – भूतकालिक ज्ञान
4. टेलीपेथी – विचार संप्रेषण

कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् के दूसरे अध्याय में उल्लेख हैं कि इंद्र ने राजा प्रतर्दन से कहा "प्राण ही ब्रह्म है"। साधनाओं द्वारा योगी, ऋषि, मुनि अपनी आत्मा में प्राण धारण करते और उससे विश्व का कल्याण करते हैं। आगे बताया गया है कि मन सहित सभी इंद्रियों को निष्क्रिय करके आत्मशक्ति (संकल्प शक्ति) को प्राणों में मिला देते हैं। ऐसा पुरूष "देवी परिसर" का ज्ञात होता है। वह प्राण शक्ति से किसी को भी प्रभावित और प्रेरित कर सकता है। उसके संदेश को कहीं भी सुना और ह्रदयंगम किया जा सकता है। उसके प्राणों में अपने प्राणों को धुलाकर स्वल्प क्षमता के लोग भी अपना प्राण जागृत कर सकते हैं। जिस पुरूष को देवी परिसर का ज्ञान होता है, उसकी आज्ञा को पर्वत भी अमान्य नहीं कर सकते। उससे द्वेष रखने वाले सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

कहते हैं कि जब राम वनवास में थे, तब लक्ष्मण अपने तेजस्वी प्राणों का संचालन करके प्रतिदिन स्थिति के समाचार अपनी धर्मपत्नी उर्मिला तक पहुँचा देते थे। उर्मिला उन संदशों को चित्रबद्ध करके रघुवंश परिवार में प्रसारित कर दिया करती थी और बेतार के तार की तरह के संदेश सबको मिल जाया करते थे।

4.3 प्राणः जैन दृष्टिकोण

स्थूल शरीर में चैतन्य की अभिव्यक्ति प्राण द्वारा होती है। तैजस वर्गणाओं से बना तैजस शरीर तैजस की अधिक मात्रा से पुष्ट हो जाता है और मात्रा कम होने पर क्षीण हो जाता है। तैजस शरीर से स्थूल शरीर में एक ही प्रकार की प्राण शक्ति का विकिरण होता है। वह प्राण–शक्ति स्थूल शरीर से जुड़कर अनेक प्रकार के कार्य करती है एवं पुनः आकाश मण्डल में विसर्जित हो जाती है। कार्य–भेद के आधार पर वह स्थूल शरीर में दस भागों में विभक्त हो जाती है।

1. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण
2. चक्षुरिन्द्रिय प्राण
3. घ्राणेन्द्रिय प्राण
4. रसनेन्द्रिय प्राण
5. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण
6. मनोबल प्राण
7. वचनबल प्राण
8. कायबल प्राण
9. श्वासोच्छ्वास प्राण
10. आयुष्य प्राण

पाँच इन्द्रियों को सक्रिय रखने वाले, प्रथम पाँच प्राण हैं। बाद में तीन प्राण

मन, वचन, काया को सक्रिय रखते हैं। श्वासोच्छ्वास प्राण रक्त शोधन क्रिया के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर को सक्रिय रखता है। आयुष्य प्राण, जीवन की अवधि के अस्तित्व का आधार है। एकेन्द्रिय जीव के 4 प्राण, दोइन्द्रिय जीव के 6 प्राण, तीन इन्द्रिय जीव के 7 प्राण, चार इन्द्रिय जीव के 8 प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के 9 प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के 10 प्राण होते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नहीं जा सकता क्योंकि जहाँ मन है वहीं पवन (प्राण) है, जहाँ पवन है वहीं मन है। ये दोनों दूध–पानीवत् मिले हुए हैं। प्राणायाम सात प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त पाँच प्रकार के पवन हैं–

1. प्राणवायु नासिका के अग्रभाग में, ह्रदय में, नाभि में और पैर के अंगुठे तक फैला है। उसका रंग हरा है, उसे श्वास–प्रश्वास के गमना–गमन के प्रयोग और धारणा से जीतना चाहिए।
2. अपानवायु का स्थान गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एड़ी में है। इसका वर्ण काला है।
3. समानवायु का स्थान ह्रदय, नाभि और सर्व सन्धियों में है। इसका वर्ण शुक्ल है।
4. उदानवायु का स्थान ह्रदय, कंठ, तालु और भृकुटि का मध्य भाग है। इसका वर्ण लाल है।
5. व्यानवायु का स्थान त्वचा के सम्पूर्ण भागों में है। इसका वर्ण इन्द्रधनुषी है।

प्राण के मुख्यतः दो प्रकार हैं – देहस्थ प्राण और मानसिक प्राण। नाभि से अधोवर्ती भाग में स्थित प्राण निम्न वृतियों को जन्म देता है और उर्ध्ववर्ती प्राण उच्च एवं स्वच्छ वृतियों को जन्म देता है। उच्च प्राण को भी क्रमशः मनोमय, भावनात्मक व केन्द्रीय प्राण रूप हैं। मनोमय – प्राण के स्थान मस्तिष्क से गले तक है। जब साधक का ध्यान प्राणायाम करते समय उक्त स्थान पर रहता है तब उसमें संकल्प, एकाग्रता, दिव्य–दर्शन आदि शक्तियाँ प्रकट होती है। अजागृत दशा में इससे विपरीत कार्य होते हैं। भावनात्मक प्राण गले से ह्रदय तक होता है। इसके जागृत और शुद्ध होने पर अन्तरात्मा का दर्शन, मोहक्षय, प्रेम, सौजन्य, मैत्री आदि भाव प्रगट होते हैं। अशुद्धता में इससे उलटी विपरीत भावनाएँ पनपती हैं। केन्द्रिय–प्राण ह्रदय से नाभि तक होते हैं। इनके जागरण के पश्चात् दिव्य शक्ति, मल रहितता, म्लानता रहितता होती है तथा क्षुधा आदि रोगों का विनाश हो जाता है। इस प्राण की अशुद्धता से आकांक्षा, आकर्षण, भय, प्रतिशोध आदि की वृतियाँ पनपती हैं। निम्न–प्राण कामकेन्द्र

के आसपास रहता है तथा जघन्य स्तरीय कामनाएँ, निन्दा, वैमनस्य, हिंसा आदि भाव उभरते हैं।

हमारे सभी मुख्य भागों पर प्राण अपने ढंग से गति करता है किन्तु जब तक प्राण–नियंत्रण नहीं हो जाता तब तक प्राण शुद्ध नहीं हो सकता। प्राण शुद्धि या प्राण– नियंत्रण का अर्थ है– प्राण का हल्का, दीर्घ व चमकीला होना। प्राण को उर्ध्वमुखी बनाने के लिए प्राण शुद्धि व प्राण संग्रह की अपेक्षा है।

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार प्राणायाम के जाने बिना साधक अन्य प्रकार किंचिन्मात्र भी मन को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। प्राणायाम करने वाला योगी निष्प्रमादी होकर बड़े यत्न से अपने मन को वायु के साथ मंद–मंद निरंतर हृदयकमल की कर्णिका में प्रवेश करा वहाँ ही नियन्त्रण करे। इस प्रकार चित को स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उठते और विषयों की आशा भी नष्ट हो जाती है तथा अन्तरंग में विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है। इस प्रकार मन को वश में करके भावना करते हुए साधक के अविद्या तो क्षणमात्र में क्षय हो जाती है, और इन्द्रियाँ मद रहित हो जाती हैं, उनके साथ–ही–साथ कषाय भी क्षीण हो जाते हैं। चित्त के स्थिर होने से ज्ञान विशेष होते हैं, उसके द्वारा जगत के समस्त वृतान्त (प्रवर्तन) प्रत्यक्ष के समान जाने जाते हैं।

परन्तु आचार्य ने एक चेतावनी भी दी है। पवन संचार का चातुर्य शरीर को सूक्ष्म स्थूलादि करने रूप अंग का साधन है इस कारण मुक्ति की वांछा करने वाले मुनि के प्रायः विघ्न का कारण है। इस पवन संचार की चतुराई के प्रपंच से क्या लाभ? क्योंकि यह आत्मा में सन्देह और पीड़ा (अतिध्यान) का कारण है। जो मुनि संसार देह भोगों से विरक्त है, कषाय जिसके मंद हैं, विशुद्ध भावयुक्त है, वीतराग है और जितेन्द्रिय है ऐसे योगी को प्राणायाम प्रशंसा करने योग्य नहीं है। मेरे विचार में इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि योगी को प्रारम्भिक अवस्था में प्राणायाम मन को वश करने तथा इन्द्रिय विजय में उपयोगी है परन्तु आगे चल कर जीवन–मुक्ति की साधना में प्राणायाम का लाभ नहीं है। योगी को अध्यात्म–विकास की अग्रिम अवस्था में समाधि प्राप्त करने के लिए ध्यान ही उपयुक्त साधन है।

<u>पर्याप्ति</u> – मन, वचन व काया की क्रियाओं के सम्पादन में जिन पौद्गलिक संस्थान की सहायता मिलती है, उन्हें पर्याप्ति कहते हैं। हमारे स्थूल शरीर में छः पर्याप्तियां हैं। वे सब तैजस् शरीर के संवादी केन्द्र हैं। उनके माध्यम से बाह्य प्राण के परमाणुओं का आकर्षण, परिणमन और उत्सर्जन होता रहता हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति

होती है। इसके अतिरिक्त दो इन्द्रिय से लेकर सभी पंचेन्द्रिय जीवों के भाषा पर्याप्ति होती है। मनः पर्याप्ति केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होती है।

शक्ति संस्थान	शक्ति प्रवाह
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	काय बल प्राण
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचन बल प्राण
मनः पर्याप्ति	मनोबल प्राण

ये शक्ति संस्थान और शक्ति प्रवाह जीव तथा निर्जीव तत्व के बीच भेद करने वाले हैं। जिनमें श्वास लेने की शक्ति है, वह जीव है और जिनमे आहार करने, शरीर रचना करने की शक्तियाँ नही है, वे निर्जीव हैं। भाषा शक्ति और मन शक्ति जीव के लक्षण नही हैं किन्तु वे विकास के अग्रिम सोपान हैं। शरीर, मन और इन्द्रिय अचेतन हैं, प्राण उर्जा का योग पाकर, वे सभी सचेतन हो जाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्राण इन्द्रिय बल, आयु तथा उच्छ्वास स्वरुप हैं। प्राणों मे चित्सामान्यरुप अन्यव वाले भाव प्राण हैं और पुदगल सामान्य रुप अन्यव वाले द्रव्यप्राण हैं। उन दोनों प्राणों को त्रिकाल अच्छिन्न–संतानरुप से (अटूट धारा से) धारण करता है इसलिए संसारी को जीवत्व है। मुक्त (सिद्ध को) तो केवल भाव प्राणों का ही धारण होने से जीवत्व है।

4.4 समीक्षा

योगशास्त्र के अनुसार प्राण ब्रम्हाण्ड भर मे व्याप्त ऐसी सूक्ष्म ऊर्जा है जो जड और चेतन दोनों का समन्वित रुप है। जड जगत मे इस उर्जा को अणु कहा गया है और चेतन जगत मे विभु। जड जगत की समस्त शक्तियों का स्रोत प्राण है। चेतन जगत मे प्राण को संवेदना यानि इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहा गया है। प्राण की अधिकता ही व्यक्ति को महात्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने का अवसर प्रदान करती है। प्राण एक प्रकार की विशिष्ट विद्युत है जिसे वैज्ञानिक 'जैव विद्युत' कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार वातावरण मे संव्याप्त प्राण मुख्यतः ऋण आवेशी आयनों से बना है। प्राण शक्ति का मुख्य स्रोत सूर्य के शार्ट वेव्ह विद्युत चुम्बकीय रेडिएशन्स हैं। जीव भोजन, पानी, हवा और सूर्य किरणों के माध्यम से प्राण ग्रहण करते हैं। माना गया है कि प्राण विस्फोट के कारण ब्रम्हाण्ड के किसी केन्द्र पिण्ड से बहता हुआ सारे

विश्व मे व्यक्त हो रहा है।

योगशास्त्र मे मनुष्य शरीर मे पाँच महाप्राण और पाँच लघु प्राण बताये गये हैं। शरीर मे इन सब प्राणों के निवास स्थान और कार्य अलग अलग हैं। जैन मत मे भी कार्य भेद के आधार पर दस प्राण बताए गये हैं। मूलतः प्राण एक ही है और कार्य भेद के अनुसार दोनों मतों मे उनके अलग अलग प्रकार से विभाजन किए गये हैं। मन को वश मे करने और देह को स्वस्थ रखने के लिए प्राणायाम की उपयोगिता सभी मतों द्वारा स्वीकार की गयी है। प्राण शक्ति से सिद्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु ये सिद्धियाँ जीवन मुक्ति मे सहायक नही होती हैं।

प्राण शक्ति की खोज भारतीय ऋषियों की एक विशिष्ट देन है। चीन मे इसे 'ची एनर्जी', जापान मे 'की एनर्जी', पश्चिम में 'युनिवर्सल एनर्जी' और 'वाइटल फोर्स' के नाम से पुकारते हैं। शरीर विज्ञानी इसे 'बायोलॉजीकल एनर्जी' कहते हैं। भारतीय ऋषियों की परिकल्पना बहुत आगे थी। उन्होने प्राण को ब्रम्हाण्ड की मूलभूत शक्ति माना हैं जिससे प्रकृति की अन्य सभी शक्तियों का उदभव हुआ है। विज्ञान में प्रकृति में चार मूलभूत बल बताए गये हैं– गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत चुम्बकीय बल, स्ट्रांग इन्टरएक्शन बल और वीक इन्टरएक्शन बल। बाद मे वैज्ञानिकों ने इन चार प्रकार के बलों को एक ही गणितीय सूत्र में बांधने का प्रयास किया जिससे कि एक ही थ्योरी से चारों बलों की व्याख्या की जा सके। इस थ्योरी को 'युनिफाइड फील्ड थ्योरी' कहा गया। यह थ्योरी एक गणितीय परिकल्पना ही है जिसके लिए सैकडों उच्च कोटि के वैज्ञानिकों ने अथक प्रयास किया। परन्तु भारतीय ऋषियों ने अपने आध्यात्मिक बल से अनुभुति के आधार पर यह घोषणा कर दी कि ब्रम्हाण्ड मे मूलभूत एक ही बल है और प्रकृति के अन्य सभी बल एक ही मूल शक्ति से उदभूत हुए हैं, जिसे प्राण कहा गया है। प्राण ही जड़ जगत मे व्याप्त सभी शक्तियों का स्रोत है। सुर्य की शक्ति का स्रोत भी यही है। आध्यात्मिक शक्ति से प्रकृति के जो रहस्य प्रकट होते हैं बुद्धि की पहुँच वहाँ तक होना बहुत कठिन है।

प्राण शक्ति अल्प मात्रा में शरीर द्वारा ग्रहण की जाती है। परन्तु यह इतनी शक्तिशाली है कि इस अल्प मात्रा से ही शरीर की उर्जा आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। योगशास्त्र ने प्राण को चेतन माना है परन्तु जैन मत के अनुसार वह पुदगल है। परन्तु यह माना जा सकता है कि प्राण जब तैजस् शरीर का अंग बन जाता है तो आत्मा के प्रभाव से उसमे चैतन्य गुण आ जाता है।

4.5 संदर्भ

1. आसन प्राणायाम से अधि–व्याधि निवारण – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ।
2. काया में समाया प्राणाग्नि का जखीरा – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य।
3. गायत्री महाविज्ञान भाग 3 – पं. श्री राम शर्मा आचार्य।
4. जीवन विज्ञान की रूपरेखा – अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ
5. चेतना का रूपान्तरण – कुमारी कौशल
6. ज्ञानार्णव – श्री शुभचन्द्राचार्य
7. दिव्य शक्तियों का उद्‌भव प्राणशक्ति से – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
8. इशादि नौ उपनिषद् – हरिकृष्णदास गोयन्दका।
9. पंचास्तिकाय – आचार्य कुंदकुंद ।

अध्याय 5

पंचकोश, ऊर्जा शरीर और आभामण्डल

5.1 पंचकोश

सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने अपने योग बल से जाना कि मनुष्य के शरीर में पाँच प्रकार के व्यक्तित्व, पाँच चेतना, पाँच तत्व विद्यमान हैं इन्हें पाँच कोश कहते हैं। शरीर पाँचों तत्वों का बना है। इन तत्वों की सूक्ष्म चेतना ही पंचकोश कहलाती है। यह पाँचों पृथक्–पृथक् होते हुए भी एक ही मूलकेन्द्र में जुड़े हुए हैं। पाँच कोशों को मनुष्य की पञ्चधा प्रकृति कहते हैं। (1) शरीराभ्यास, (2) गुण, (3) विचार, (4) अनुभव और (5) सत्। इन पाँच चेतनाओं को ही अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश कहा जाता है। ये सामान्यतया मूर्च्छित, प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। साधारणतया इन पाँचों में एक स्वरता नहीं होती। स्वास्थ्य, योग्यता, बुद्धि, रूचि और लक्ष्य में एकता नहीं होने के कारण मनुष्य ऐसे विलक्षण कार्य करता है जो किसी दिशा में उसे चलने नहीं देते। आत्मविद्या के ज्ञाताओं ने इस पृथक्ता को, विसंगति को एक स्थान पर केन्द्रित करने, एक सूत्र से संबंधित करने के लिए पंचकोश की साधना का संविधान प्रस्तुत किया है।

इन पाँचों कोशों को मिलाकर एक पूर्ण मानवी सत्ता बनती है। इन में एक के बाद दूसरे की महत्ता तथा समर्थता अपेक्षाकृत अधिक होती चली गई है। साधना करने पर इनमें से प्रत्येक में एक से एक अधिक ऊँचे स्तर की शक्तियाँ–सिद्धियाँ मिलती चली जाती हैं। इसी आधार पर उन परतों को पाँच देवताओं की संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि इन्हें जीवित कर लेने वाला, पाँच देवताओं के साथ रहने वाला अथवा उन्हें साथ रखने वालों की स्थिति में पहुँच जाता है।

इन पाँच कोशों एवं देवताओं की पाँच सिद्धियाँ हैं। आनन्दमय कोश की सिद्धि से निरोगता, दीर्घ जीवन एवं चिरयौवन का लाभ है। प्राणमय कोश से साहस, शौर्य, पराक्रम–प्रभाव, प्रतिभा जैसी विशेषताएँ उभरती हैं। प्राण विद्युत की विशेषता से आकर्षक चुंबक व्यक्तित्व में बढ़ता जाता है और प्रभावक्षेत्र पर अधिकार बढ़ता जाता है। मनोमय कोश की जागृति से विवेकशीलता, दूरदर्शिता, बुद्धिमता बढ़ती है और उतार–चढ़ावों में धैर्य, संतुलन बना रहता है। विज्ञानमय कोश से सज्जनता, उदार सहृदयता का विकास होता है और देवत्व की ईश्वरीय विशेषताएँ उभरती हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान, अपरोक्षानुभूति, दिव्य दृष्टि जैसी उपलब्धियाँ विज्ञानमय कोश की हैं। आनन्दमय कोश के विकास से चिंतन तथा कर्तृत्व दोनों ही इस स्तर के बन जाते

हैं कि हर घड़ी आनंद छाया रहे। संकटों का सामना ही न करना पड़े। ईश्वर दर्शन, आत्म–साक्षात्कार, स्वर्ग–मुक्ति जैसी महान उपलब्धियाँ आनन्दमय कोश की ही देन हैं।

अन्नमय कोश – अन्न का सात्विक अर्थ है – पृथ्वी का रस। अन्न से उत्पन्न होने वाला और उसी में जाने वाला यह देह प्रधानता के कारण "अन्नमय कोश" कहा जाता है। परन्तु यह देह स्वयं अन्नमय कोश नहीं है। मृत्यु हो जाने पर देह तो नष्ट हो जाती है, पर अन्नमय कोश नष्ट नहीं होता। यह जीव के साथ रहता है। बिना शरीर के भी जीव भूतयोनि में या स्वर्ग–नरक में उन भूख–प्यास, सर्दी, गर्मी, चोट, दर्द आदि को सहता है जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार उसे उन इन्द्रिय भोगों की चाह रहती है जो शरीर द्वारा भोगे जाने से सम्भव है। भूतों की इच्छाएँ वैसी ही आहार–विहार की रहती हैं, जैसी शरीरधारी मनुष्यों की होती हैं। इससे प्रकट है कि अन्नमय कोश शरीर का संचालक, कारण, उत्पादक, उपभोक्ता आदि तो है पर उससे पृथक भी है। इसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है।

शरीर अन्न से बनता और बढ़ता है। अन्न के भीतर सूक्ष्म जीवन तत्व रहता है, वह अन्नमय कोश को बनाता है। जैसे शरीर में पाँच कोश हैं, वैसे ही अन्न में तीन कोश हैं – स्थूल, सूक्ष्म, कारण। स्थूल में स्वाद और भार, सूक्ष्म में प्रभाव और गुण तथा कारण के कोश में अन्न का संस्कार रहता है। जिह्वा से केवल भोजन का स्वाद मालूम होता है। पेट उसके बोझ का अनुभव करता है, रस में उसकी मादकता, उष्णता आदि प्रकट होती है। अन्नमय कोश पर उसका संस्कार जमता है। माँस आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थ ऐसे हैं जो जीभ को स्वादिष्ट लगते हैं, देह को मोटा बनाने में भी सहायक होते हैं, पर उनमें सूक्ष्म संस्कार ऐसा होता है, जो अन्नमय कोश को विकृत कर देता है और उसका परिणाम अदृश्य रूप से आकस्मिक रोगों के रूप में तथा जन्म–जन्मान्तर तक कुरूपता एवं शारीरिक अपूर्णता के रूप में चलता है। जो लोग अभक्ष्य खाते हैं वे अब नहीं तो भविष्य में ऐसी आन्तरिक विकृति से ग्रस्त हो जायेंगे जो उनको शारीरिक सुख से वंचित रखे रहेगी। इस प्रकार अनीति से उपार्जित धन या पाप की कमाई प्रकट में आकर्षक लगने पर भी अन्नमय कोश को दूषित करती है और अन्त में शरीर को विकृत तथा चिररोगी बना देती है। कितने ही शारीरिक विकारों की जड़ अन्नमय कोश में होती है। उनका निवारण दवा–दारू से नहीं यौगिक साधनों से हो सकता है। इनमें प्रमुख हैं – (1) उपवास, (2) आसन, (3) तत्त्व शुद्धि और (4) तपश्चर्या।

प्राणमय कोश – प्राण शक्ति और सामर्थ्य का प्रतीक है। विद्या, चतुराई,

अनुभव, दूरदर्शिता, साहस, लगन, शौर्य, जीवनीशक्ति, ओज, पुष्टि, पराक्रम, पुरूषार्थ, महानता आदि नामों से इस आन्तरिक शक्ति का परिचय मिलता है। आध्यात्मिक भाषा में इसे प्राण शक्ति कहते हैं। प्राण द्वारा ही श्रद्धा, निष्ठा, दृढ़ता, एकाग्रता और भावना प्राप्त होती है, जो भव–बन्धनों को काटकर आत्मा को परमात्मा से मिलाती है। मुक्ति को परम पुरूषार्थ माना गया है। संसार के अन्य सुख–साधनों को प्राप्त करने के लिए जितने विवेक, प्रयत्न एवं पुरूषार्थ की आवश्यकता पड़ती है, मुक्ति के लिए उससे कम नहीं वरन् अधिक की ही आवश्यकता है।

इस निखिल विश्व में प्राण का चैतन्य समुद्र भरा पड़ा है। प्राणायाम के द्वारा विश्वव्यापी प्राण से यथेष्ट मात्रा में प्राण–तत्व खींचा जा सकता है और उसी अनुपात में प्राणमय कोश को सतेज और चेतन बनाया जा सकता है। यह भण्डार जितना अधिक होगा उतने ही हम प्राणवान् बनेंगे और उसी अनुपात में सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्राप्त करने के अधिकारी हो जायेंगे। दीर्घ जीवन, उत्तम स्वास्थ्य, चैतन्यता, स्फूर्ति, उत्साह, क्रियाशीलता, कष्ट सहिष्णुता, बुद्धि की सूक्ष्मता, सुन्दरता, मनमोहकता आदि विशेषताएँ प्राण शक्ति की छोटी–छोटी चिनगारियाँ हैं।

मनोमय कोश – पंच कोशों में तीसरा 'मनोमय कोश' है। मन बड़ा चंचल और वासनामय है। यह सुख प्राप्ति की अनेक कल्पनाएँ किया करता है। अच्छे और प्रशंसनीय कार्य भी मन की कल्पना पर अवलम्बित हैं। मनुष्य को नारकीय एवं घृणित पतितावस्था में पहुँचाा देना अथवा उसे मानव–भूसुर बना देना मन का ही खेल है। मन में जैसी कल्पनाएँ, इच्छाएँ, वासनाएँ, आकांक्षाएँ, तृष्णाएँ उठती हैं उसी ओर शरीर चल देता है। वह मृगतृष्णाओं में मनुष्य को भटकाता है और सफलताओं की, अधूरे कार्यक्रमों की अगणित ढेरियाँ लगाकर जीवन को मरघट जैसा कर्कश बना देता है। वर्तमान युग में यह दोष और अधिक बढ़ गया है। इस समय मनुष्य भौतिकता के पीछे पागल हो रहा है। आत्म कल्याण की बात को सर्वथा भूलकर वह कृत्रिम सुख–सुविधाओं के लिए लालयित हो रहा है।

गीता में कहा गया है कि 'मन ही मनुष्य का शत्रु और मन ही मित्र है, बन्धन और बोझ का कारण भी यही है।' वश में किया हुआ मन अमृत के समान और अनियंत्रित मन को हलाहल विष जैसा अहितकर बताया गया है। मन का वश में होने का अर्थ उसका बुद्धि के, विवेक के नियंत्रण में होना है। बुद्धि जिस बात में औचित्य अनुभव करे, कल्याण देखे, आत्मा का हित, लाभ–स्वार्थ समझे, उसके अनुरूप कल्पना करने, योजना बनाने, प्रेरणा देने का काम करने को मन तैयार हो जाये तो समझना चाहिए कि मन वश में हो गया है।

मेस्मेरीज्म, हिप्नोटिज्म, पर्सनल मेग्नेटिज़्म, मेण्टल थैरेपी, आकल्ट साइन्स, मेण्टल हीलिंग, स्पिरिचुअलिज़्म आदि के चमत्कारों की पाश्चात्य देशों में धूम है। तन्त्र क्रिया, मन्त्र शक्ति, प्राण विनिमय, सवारी विद्या, धात् चौकी, सर्प कीलन, जादू आदि चमत्कारी शक्तियों से भारतवासी भी चिर परिचित हैं। यह सब खेल–खिलौने एकाग्र मन की प्रचण्ड संकल्प शक्ति के छोटे–छोटे मनोविनोद मात्र हैं।

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दो उपाय मन को वश में करने के बताये – (1) अभ्यास और (2) वैराग्य। अभ्यास का अर्थ है वे योग साधनाएँ जो मन को रोकती हैं। वैराग्य का अर्थ है – व्यावहारिक जीवन को संयमशील और व्यवस्थित बनाना। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बुराइयों से बचते हुए सादा, सरल, आदर्शवादी, शान्तिमय जीवन बिताने की कला वैराग्य कहलाती है। वैराग्य का वास्तविक तात्पर्य है – राग से निवृत होना। राग द्वेष जहाँ उत्पन्न होता है उस क्षेत्र में रहकर उन बुराइयों पर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य की सफलता है। प्रलोभन को जीतना ही वैराग्य है और यह विजय वहीं हो सकती है, जहाँ वे बुराईयाँ मौजूद हों। इसलिए गृहस्थ में, सांसारिक जीवन में सुव्यवस्थित रहकर रागों पर विजय प्राप्त करने को वैराग्य कहना चाहिए। अभ्यास के लिए योगशास्त्रों में कितनी ही साधनाओं का वर्णन हैं, इन साधनाओं को मनोमय योग कहते हैं। मनोयोग के अन्तर्गत (1) ध्यान, (2) त्राटक, (3) जप और (4) तन्मयता साधन यह चार साधन प्रधान रूप से आते हैं।

विज्ञानमय कोश – विज्ञानमय कोश आत्मा का चौथा आवरण है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। साधारण ज्ञान द्वारा हम लोक–व्यवहार को, अपनी शारीरिक, व्यापारिक, सामाजिक, कलात्मक, धार्मिक समस्याओं को समझते हैं। स्थूल में इसी साधारण ज्ञान की शिक्षा मिलती है। राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, रसायन, चिकित्सा, संगीत, वक्तृत्व, लेखन, व्यवसाय, कृषि, निर्माण, उत्पादन आदि विविध बातों की जानकारी विविध प्रकार से की जाती है। इन जानकारियों के आधार पर शरीर से सम्बन्ध रखने वाला सांसारिक जीवन चलता है। इसमें तो संदेह नहीं कि यह जानकारी जीवन के विकास के लिए आवश्यक है और इनके द्वारा आध्यात्मिक प्रगति में भी सहायता मिलती है।

विज्ञान का अभिप्राय है श्रद्धा, धारणा, मान्यता, अनुभूति। आत्मविद्या के सभी जिज्ञासु यह जानते हैं कि "आत्मा अमर है, शरीर से भिन्न है, ईश्वर का अंश है, सच्चिदानन्द स्वरूप है" परन्तु इस जानकारी का एक कण भी अनुभूति भूमिका में नहीं होता। स्वयं को तथा दूसरों को मरते देखकर हृदय विचलित हो जाता है। शरीर के लाभ के लिए आत्मा के लाभों की उपेक्षा प्रतिक्षण होती रहती है। दीनता, अभाव,

तृष्णा, लालसा हरघड़ी सताती रहती है। तब कैसे कहा जाय कि आत्मा की अमरता शरीर की भिन्नता तथा ईश्वर के अंश होने की मान्यता पर हमें श्रद्धा है, आस्था है, विश्वास है। अपने सम्बन्ध में तात्विक मान्यता स्थिर करना और उसका पूर्णतया अनुभव करना यही विज्ञान का उद्देश्य है।

जिस मनोभूमि में पहुँचकर जीव यह अनुभव करता है कि मैं शरीर नही वस्तुतः "आत्मा ही हूँ", उस मनोभूमि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश में जब तक जीव की स्थिति रहती है तब तक वह अपने को स्त्री–पुरूष, मनुष्य, पशु, काला, गोरा आदि शरीर सम्बन्धी भेदों को पहचानता है। जब प्राणमय कोश में जीव की स्थिति होती है, तो गुणों के आधार पर अपनत्व का बोध होता है। शिल्पी, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, मूर्ख, कायर, शूरवीर, लेखक, वक्ता, धनी, गरीब आदि की मान्यता से प्राण भूमिकाएँ होती हैं। मनोमय कोश की स्थिति में पहुँचने पर अपने मन की मान्यता स्वभाव के आधार पर होती है। लोभी, दम्भी, चोर, उदार, विषयी, संयमी, नास्तिक, आस्तिक, स्वार्थी, परमार्थी, दयालु, निष्ठुर आदि कर्त्तव्य और धर्म की औचित्य–अनौचित्य सम्बन्धी मान्यताएँ जब अपने सम्बन्ध में बनती हैं, उन्हीं पर विशेष ध्यान रहता हो, तो समझना चाहिए कि जीव मनोमय भूमिका में तीसरी कक्षा में पहुँचा हुआ है। इससे चौथी कक्षा विज्ञान भूमिका है, जिसमें पहुँचकर जीव अपने को यह अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर से, गुणों से, स्वभाव से ऊपर हूँ, मैं अविनाशी आत्मा हूँ।

जीभ से अपने को आत्मा कहने वाले असंख्य लोग हैं, इन्हें आत्मज्ञानी नहीं कह सकते। आत्मज्ञानी वह है तो दृढ़ विश्वास और पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने भीतर यह अनुभव करता है कि "मैं विशुद्ध आत्मा हूँ, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" शरीर मेरा वाहन है। प्राण मेरा अस्त्र है। मन मेरा सेवक है। मैं इन सबसे ऊपर, इन सबसे अलग इन सबका स्वामी आत्मा हूँ। मेरे स्वार्थ इनसे अलग हैं, मेरे लाभ और स्थूल शरीर के लाभों में, स्वार्थों में भारी अन्तर है। इस अन्तर को समझकर जीव अपने लाभ, स्वार्थ, हित और कल्याण के लिए कटिबद्ध होता है, आत्मोन्नति के लिए अग्रसर होता है तो उसे अपना स्वरूप और भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है। आत्म साक्षात्कार की चार प्रमुख साधनाएँ हैं, (1) सोऽहं साधना, (2) आत्मानुभूति, (3) स्वर संयम और (4) ग्रन्थि भेद। यह चारों ही विज्ञानमय कोश को प्रबुद्ध करने वाली हैं।

आनन्दमय कोश – जिस आवरण में पहुँचने पर आत्मा को आनन्द मिलता है, जहाँ उसे शान्ति, सुविधा, स्थिरता, निश्चिन्तता और अनुकूलता की स्थिति प्राप्त होती है, वहीं आनन्दमय कोश है। आत्मिक परमार्थों की साधना में मनोयोगपूर्वक

संलग्न होने के कारण सांसारिक आवश्यकताएँ बहुत सीमित रह जाती हैं। उनकी पूर्ति में इसलिए बाधा नहीं आती कि साधक अपनी शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को उचित मात्रा में आसानी से कमा सकता है। आनन्दमय कोश को समाधि अवस्था भी कहते हैं।

गीता के दूसरे अध्याय में "स्थित प्रज्ञ" की जो परिभाषा दी गई है और "समाधिस्थ" के जो लक्षण बताए गय हैं, वे ही गुण, कर्म, स्वभाव आनन्दमयी स्थिति में हो जाते हैं। मनुष्य अपने शरीर की आत्म–स्थिति में रमण करता है। सुख–दुख में समान रहता है, न प्रिय से राग करता है, न अप्रिय से द्वेष करता है। इन्द्रियों को इन्द्रियों तक ही सीमित रहने देता है, उसका प्रभाव आत्मा पर नहीं होने देता और कछुआ जैसे अपने अंगों को समेटकर अपने भीतर कर लेता है वैसी ही वह अपनी कामनाओं और लालसाओं को संसार में न फैलाकर अपनी अन्तः भूमिका में ही समेट लेता है। जिसकी मानसिक स्थिति ऐसी होती है, उसे योगी, ब्रह्मभूत, जीवन–मुक्त या समाधिस्थ कहते हैं।

मन को पूर्णतया संकल्प रहित कर देने से रिक्त मानस की निर्विषय स्थिति होती है, उसे तुरियावस्था कहते हैं। ध्यान, भाव, विचार, संकल्प, इच्छा, कामना को पूर्णतया बहिष्कार कर दिया जाय और भाव रहित होकर केवल आत्मा को एक केन्द्र से अपने अन्तःकरण को पूर्णतया समाविष्ट कर दिया जाये तो साधक तुरियावस्था में पहुँच जाता है। इस स्थिति में इतना आनन्द आता है कि उस आनन्द के अतिरेक में अपनेपन की सारी सुध–बुध छूट जाती है और पूर्ण मनोयोग होने से बिखरा हुआ आनन्द एकीभूत होकर साधक को आनन्द से परितृप्त कर देता है, इसी स्थिति को समाधि कहते है। आनन्दमय कोश की साधना में आनन्द का रसास्वादन होता है। इस प्रकार की आनन्दमयी साधनाओं में तीन प्रमुख साधन हैं – (1) नाद साधना, (2) बिन्दु साधना और (3) कला साधना।

5.2 ऊर्जा शरीर : पाश्चात्य दृष्टिकोण

पश्चिमी अध्यात्मवेत्ताओं ने भी सूक्ष्म शरीर को मान्यता प्रदान की है। उनका मत है कि जिस प्रकार हम एक मृत शरीर के अध्ययन से भौतिक शरीर के बारे में सब कुछ नहीं समझ सकते हैं उसी प्रकार अध्यात्म के बिना हम जीवन को भौतिक शरीर से नहीं समझ सकते हैं। जो भी हम इन्द्रियों से देखते हैं केवल वही सच्चाई नहीं है, वह तो सच्चाई की एक अवस्था है। उनके अनुसार हमारे कई सूक्ष्म शरीर हैं जिन्हें ऊर्जा शरीर कहा गया है। हमारा भौतिक शरीर सबसे सघन शरीर है और

वह सबसे कम स्थायी भी है। पश्चिमी जगत में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं, एक में पाँच शरीरों को मान्यता दी गई है और दूसरी में सात शरीरों को माना गया है। हम दोनों विचारधाराओं को यहाँ संक्षिप्त में प्रस्तुत कर रहे हैं।

पाँच शरीरों की विचारधारा में एक भौतिक शरीर और चार सूक्ष्म ऊर्जा शरीरों को माना गया है। भौतिक शरीर को भी ऊर्जा कोश ही कहा जाता है, क्योंकि पदार्थ भी वास्तव में ऊर्जा ही है। चारों ऊर्जा शरीर भौतिक शरीर के चारों ओर तथा उसके अन्दर भी व्याप्त हैं। जिस प्रकार एक टेलीविज़न आकाश में व्याप्त विभिन्न संकेतों को उनकी आवृति के अनुसार पहचान लेता है वैसे ही भौतिक शरीर में व्याप्त इन ऊर्जा शरीरों की पहचान हो जाती है। बाहर से आने वाले संकेत अपनी आवृति के समान आवृति वाले ऊर्जा शरीर में पहुँच जाते हैं।

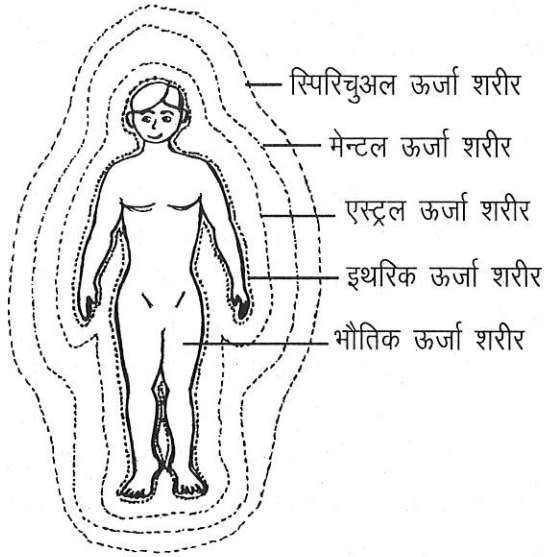

चित्र 5.1 : पाँच ऊर्जा शरीर

1. भौतिक ऊर्जा शरीर

भौतिक शरीर ऊर्जा का एक सघन रूप है जिसे जीवात्मा दूसरों के साथ व्यवहार के लिए और वातावरण से सम्बन्ध बनाने के लिए काम लेती है। भौतिक शरीर की ऊर्जा आवृति, हमारी इन्द्रियों का विषय है यानि हम इसे आँखों से देख सकते हैं, कानों से सुन सकते है, स्पर्श, रस और गंध का अनुभव कर सकते हैं। यह शरीर भौतिक पदार्थ से बना है। इस शरीर के चारों तरफ आवरण के रूप में कइ ऊर्जा क्षेत्र हैं जिन्हें ऊर्जा शरीर कहा जाता है।

2. इथरिक ऊर्जा शरीर

इथरिक ऊर्जा शरीर की आवृति भौतिक शरीर की आवृति से कुछ अधिक है। यह शरीर भौतिक शरीर के अन्दर और उसके बाहर लगभग एक इंच तक व्याप्त है। यह शरीर भौतिक शरीर के विकास, रखरखाव और सुधार के लिए ऊर्जा का आवरण बनाए रखता है। इथरिक शरीर में भौतिक शरीर के सभी अंग–उपांगों और अवयवों की आवृति के समान आवृति वाली ऊर्जा होती है। वास्तव में देखा जाय तो इस शरीर में भौतिक शरीर की प्रत्येक कोशिका के स्थान और विकास के लिए ऊर्जा मार्ग का मानचित्र होता है। वस्तुतः इथरिक शरीर भौतिक शरीर की सूक्ष्म कॉपी है। भौतिक शरीर का अस्तित्व इसी जीवनदायी ऊर्जा के कारण है। यह ऊर्जा कोश जीव के जन्म से पूर्व ही जीवात्मा के साथ विद्यमान रहता है। इथरिक शरीर को प्राणमय कोश के समकक्ष माना जा सकता है।

इथरिक शरीर को भौतिक शरीर का सम्पूर्ण मान चित्र मानना दोनों शरीरों में बहुत गहरा संबंध स्थापित करता है। भौतिक शरीर के उत्तकों और अंगों की संरचना ही नहीं, उनका स्वस्थ होना भी इथरिक शरीर से आने वाले ऊर्जा स्पन्दनों पर निर्भर करता है। यदि ये ऊर्जा स्पन्दन स्पष्ट और शुद्ध नहीं हैं तो इसका परिणाम शरीर में रोग के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार यदि शरीर में कोई टूट–फूट होती है, जैसे हड्डी का टूटना, जलना, घाव होना, चोट लगना आदि, तो उसका प्रभाव इथरिक शरीर पर भी पड़ता है। अंगों के ठीक हो जाने पर इथरिक कोश फिर पूर्ववत् हो जाता है। यह पाया गया है कि भौतिक शरीर में किसी रोग के होने के कुछ सप्ताह या कुछ महिनों पहले ही उस रोग के लक्षण इथरिक शरीर में प्रकट हो जाते हैं। इथरिक शरीर में कमी भौतिक शरीर में प्रकट होती है। इथरिक शरीर की दशा एस्ट्रल शरीर और मेन्टल शरीर से प्रभावित होती है। इथरिक शरीर स्वस्थ है तो भौतिक शरीर भी स्वस्थ रहता है।

स्मृति इथरिक शरीर पर निर्भर करती है। इसके माध्यम से विचार मास्तिष्क में रिकॉर्ड होते हैं। एस्ट्रल शरीर और मेन्टल शरीर में रहने वाले पैटर्न को इथरिक शरीर, भौतिक शरीर के स्नायुतंत्र और अंतःस्रावी ग्रंथियों को पहुँचाता है और भौतिक शरीर वैसी ही प्रतिक्रिया करता है। यदि भौतिक शरीर के गलत व्यवहार के कारण इथरिक शरीर की अत्यधिक ऊर्जा व्यय हो जाती है तो वह एस्ट्रल शरीर और मेन्टल शरीर के संकेत ठीक से ग्रहण नहीं कर पाता है और व्यक्ति अपनी भावना और मानसिक संकेतों पर प्रतिक्रिया नहीं कर पाता।

बारबरा ब्रेनन के अनुसार इथरिक शरीर छोटी–छोटी ऊर्जा रेखाओं का एक

जाल है जिसका आकार भौतिक शरीर जैसा ही है और यह भौतिक शरीर से एक चौथाई इंच से लेकर 2 इंच तक बाहर निकला रहता है। भौतिक शरीर की सभी कोशिकाएँ और उत्तक इसी ऊर्जा जाल में बंधे होते हैं और उसी की सहायता से विकास करते हैं। इथरिक शरीर हल्का नीला या सलेटी रंग के प्रकाश का बना दिखाई देता है जो 15–20 साइकल प्रति मिनट की आवृति से सकुंचन–प्रकुंचन करता रहता है।

3. एस्ट्रल ऊर्जा शरीर

एस्ट्रल शरीर अपने समान ऊर्जा (आवृति) वाले पदार्थ से बना है। एस्ट्रल शरीर में हमारे मनोभाव, भावनाएँ, अहंकार तथा वे स्पंदन रहते हैं तो हमारे व्यक्त्वि का निर्धारण करते हैं। एस्ट्रल शरीर का आकार भौतिक शरीर और इथरिक शरीर के जैसा ही होता है परन्तु यह कुछ अधिक लचीला होता है और भौतिक शरीर से लगभग तीन इंच बाहर निकला रहता है। इस शरीर में कई रंग और शेड होते हैं जो हमारे मूड़ के अनुसार बदलते रहते हैं। एस्ट्रल शरीर से ही हम प्रेम, घृणा, हर्ष, विषाद, दया, ईर्ष्या, विनय, अविनय, सम्मान, भय, साहस आदि भावों का अनुभव करते हैं (इसे भावनात्मक शरीर कहा जा सकता है)। इस शरीर में ऊँची और नीची इच्छाओं के बीच लड़ाई लड़ी जाती है। पवित्र और आध्यात्मिक भावनाएँ एस्ट्रल शरीर में स्पष्ट चमकीले रंग के रूप में दिखाई देती हैं। अहितकर और अकल्याणकारी भावनाएँ काले, भूरे, गंदे लाल, मटमैले हरे या अन्य प्रकार के गैर चमकीले रंगों के रूप में दिखाई देती हैं। यदि कोई भावना लम्बे समय तक बनी रहती है तो वह एक प्रकार का स्थाई चिन्ह बना देती है और फिर वह आसानी से भविष्य में अपने आप ऊभरकर आ जाती है। एक समान प्रकृति वाले (यानि एक समान आवृति वाले) भावनात्मक शरीरों में आपस में स्वतः संबंध स्थापित हो जाता है और उनमें विचारों का आदान–प्रदान होने लगता है। इस प्रकार हम दूसरों से प्रभावित होते हैं और दूसरों को प्रभावित करते हैं। परन्तु हम ऐसा कोई विचार आकर्षित नहीं कर सकते जो न्यूनाधिक रूप में हमारे अन्दर पहले से उपस्थित न हो। जब हमारी भावनाएँ पवित्र और शुद्ध होती हैं तो इस शरीर में आने वाली ऊर्जा की आवृति अधिक होती है।

4. मेन्टल ऊर्जा शरीर

मेन्टल शरीर अपने समान ऊर्जा (आवृति) वाले पदार्थ से बना है। मेन्टल शरीर हमें समझदारी पूर्वक सोचने, योजना बनाने और प्रयोजन परक कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है। इस शरीर में विचारों, अनुभवों और धारणाओं की स्मृतियाँ

संग्रहीत रहती है। जब स्मृति किसी वस्तु विशेष की होती है तो उसका चित्र हमारे मेन्टल शरीर में रहता है, धारणा एक प्रकाश के ज्योमितिक पैटर्न के रूप में अंकित हो जाती है। जब हमारे मेन्टल शरीर में स्पन्दन पैटर्न बन जाते हैं तो वे अपना अस्तित्व बनाए रखने की कोशिश करते हैं। इन पैटर्न को पढ़ने से स्मृति उभर कर आ जाती है। यह स्मृति एस्ट्रल शरीर और इथरिक शरीर से होकर मस्तिष्क में प्रवेश करती है तो स्नायुतंत्र को आवश्यक निर्देश देती है।

जो कोई विचार, भावना और धारणा हमारे प्रयोग में आते हैं वे अवचेतन मन में चले जाते हैं और वहाँ बने रहते हैं। भविष्य में उसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर हम अपने आप बिना सोचे वैसा ही व्यवहार करने लग जाते हैं। कोई भावना या विचार यदि बार–बार उपयोग में आता है तो वह संस्कार बन जाता है। तब बिना चाहे भी हम कुछ वैसा ही व्यवहार कर बैठते हैं। यही आदत कहलाती है। इस प्रकार हम जैसा सोचते हैं वैसे ही बन जाते हैं।

मेन्टल शरीर हमारा संचार उपकरण है। हमारी जीवात्मा इसी के माध्यम से मेन्टल, एस्ट्रल, इथरिक और भौतिक शरीर से सम्पर्क करती है। कोई भी ऊर्जा शरीर उससे ऊँचे ऊर्जा शरीर से नियंत्रित किया जा सकता है और सभी शरीर चेतना द्वारा नियंत्रित हैं। सभी ऊर्जा शरीरों और भौतिक शरीर को एक टीम की तरह कार्य करना होता है। इसके लिए सभी शरीरों को सही रूप में ट्यून होना चाहिए और उनमें आपस में ताल–मेल होना चाहिए।

5. स्पिरिचुअल (कॉजल) शरीर

स्पिरिचुअल शरीर की आवृति मेन्टल शरीर की आवृति से गुणाकार अधिक होती है। हमने अभी तक जो सीखा है और अनुभव किया है उस सब की सूचनाएँ इस शरीर में रहती हैं तथा उस संबंधित चेतना इस शरीर में परावर्तित होती है। हमारी उच्चस्तरीय भावनाएँ, विवेक और हमारी वे आकांक्षाएँ जो इस जीवन में प्रयोजन, स्थान और लक्ष्य के प्रति जागरूकता बढ़ाती है, इसी शरीर में रहती हैं। उपरोक्त पाँचों शरीर मिलकर हमारा आभामण्डल बनाते हैं। इसकी बाहरी सीमा एक अंडाकार रूप में होती है जो भौतिक शरीर से डेढ़ से दो फीट की दूरी तक होती है। यह एक सामान्य स्थिति है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुसार यह सीमा कम या अधिक हो सकती है। उदाहरण के लिए जब व्यक्ति की भावनाएँ सर्व प्रेम से ओतप्रोत है तो आभामण्डल कई फीट की दूरी तक फैल जाता है और वह सुनहरा या धवल रंग का और चमकीला प्रकाशवान् होता है। परन्तु जब व्यक्ति शारीरिक या मानसिक रूप से भयभीत हो रहा है तब आभामण्डल सघन होकर कुछ इंच की दूरी

तक ही सिमट जाता है।

एस्ट्रल शरीर निरन्तर गतिशील अवस्था में रहता है परन्तु इथरिक शरीर जन्म से मृत्यु पर्यंत स्थिर रहता है और भौतिक शरीर को बल तथा सुरक्षा प्रदान करता है। इथरिक शरीर में सात चक्र हैं जो सात प्रकार की ऊर्जा ग्रहण करते हैं और भौतिक शरीर में ग्रंथितंत्र को प्रवाहित करते हैं। ग्रंथितंत्र को यह ऊर्जा प्रवाह सत्पुरूषों में निर्बाध रूप से चलता रहता है परन्तु सामान्य मनुष्यों में यह प्रवाह बाधित और सीमित होता है। रूग्ण अवस्था में ऊर्जा प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। ग्रंथि तंत्र से ऊर्जा स्नायु तंत्र को जाती है और वहाँ से स्नायुओं के माध्यम से समस्त शरीर में पहुँचती है। ये स्नायु इथरिक शरीर के भाग हैं। जहाँ स्नायु मिलती है वही स्थान चक्र का केन्द्र बन जाता है। हमारी शरीर में 49 अल्पस्तर के, 21 मध्यम स्तर के और सात उच्च स्तर के ऊर्जा केन्द्र हैं। इस प्रकार इथरिक शरीर समस्त शरीर में ऊर्जा का प्रवाह करता है और इन्द्रियों को क्रियाशील बनाए रखता है।

इथर चार प्रकार के बताए गये हैं –

(अ) रसायनिक इथर – रसायनिक इथर के दो ध्रुव हैं। घन ध्रुव पोषक तत्वों के पाचन और शरीर के आकार को बनाए रखने का कार्य करता है। ऋण ध्रुव शरीर से निष्क्रिय पदार्थ और विष निष्काषन का कार्य करता है।

(ब) जीवनी इथर – जीवनी इथर गर्भावस्था में शरीर का निर्माण करता है।

(ग) प्रकाश इथर – प्रकाश इथर का घन ध्रुव रक्त संचालन और मांसपेशियों के द्रव्य को नियंत्रित करता है। ऋण ध्रुव इन्द्रियों को क्रियाशील रखता है।

(घ) परावर्तन इथर – इस इथर के माध्यम से मन और मस्तिष्क के बीच आदान–प्रदान होता है। पूर्व जन्म तथा पूर्व जीवन की समस्त स्मृतियाँ मेन्टल शरीर से परावर्तन पद्धति से इस इथर में अंकित हो जाती हैं और यहीं से वे मस्तिष्क में उतरती हैं। मस्तिष्क में रिकॉर्ड होने वाली स्मृतियाँ इस इथर में अंकित हो जाती हैं और वे मेन्टल शरीर में पहुँचाई जाती हैं।

हम प्रकृति की संरचना को समझें। भौतिक पदार्थ में केवल भौतिक शरीर होता है। वनस्पति जगत में भौतिक शरीर और इथरिक शरीर होता है। पशु पक्षियों में भौतिक शरीर इथरिक शरीर और एस्ट्रल शरीर होते हैं। पशु पक्षियों में भावना होती है परन्तु मन नहीं होता, विवेक नहीं होता। मनुष्यों में मन भी होता है जो हमें विवेक, स्वतंत्र विचार और निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है। इसलिए हमारे कार्यों के लिए हम ही जिम्मेदार हैं, हम अच्छे या बुरे में जो चाहें चुन सकते हैं।

5.3 सात ऊर्जा शरीर

अब हम बारबरा एन ब्रेनन द्वारा प्रस्तुत सात ऊर्जा शरीर की विचारधारा को देखें।

बारबरा एन ब्रेनन जो एक चिकित्सक एवं शिक्षक हैं, ने अपने 20 वर्ष के अनुभव के आधार पर आभामण्डल के सात ऊर्जा शरीर बताए हैं। हर बाहरी ऊर्जा शरीर अपने अन्दर वाले ऊर्जा शरीर से अधिक आवृति वाला है। विषम संख्या वाले शरीर याने, पहला, तीसरा, पाचँवा तथा सातवाँ शरीर एक विशिष्ट संरचना और आकार लिए हुए है। सम संख्या वाले यानि दूसरा, चौथा और छठवाँ कोश, आकार और संरचना रहित ऊर्जा श्रेत्र हैं। इन सम संख्या वाले शरीरों को बायोप्लाज़्मा से बना माना गया है। यह बायोप्लाज़्मा विषम संख्या वाले शरीरों में स्थित संरचना रेखाओं के सहारे प्रवाहित होता है।

ये ऊर्जा शरीर हमारे भौतिक शरीर के साथ मिल कर एक अविच्छिन्न इकाई बनाते हैं, भौतिक शरीर को आवश्यक ऊर्जा एवं जीवनी ऊर्जा प्रदान करते हैं और सभी शरीरों के बीच संवाद और एकता बनाए रखते हैं। हमारे व्यक्तित्व के ये सभी शरीर होलोग्राफिक पद्धति से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले सभी कारक हमारे आभामण्डल में रंग, रेखा, बिन्दु, रेखाचित्र, स्पन्दन या रश्मियों के रूप में अंकित हो जाते हैं।

इन ऊर्जा शरीरों की सत्ता उतनी ही सच है जितना कि भौतिक शरीर सच है। जब ये ऊर्जा शरीर शक्तिशाली, ऊर्जावान और स्वस्थ होते हैं तो हम मानवता के हर क्षेत्र में पूर्ण जीवन्त अनुभव करते हैं। जब कोई ऊर्जा शरीर कमजोर होता है तो हम उस शरीर से सम्बन्धित क्षेत्र में अनुभूति करने में कठिनाई अनुभव करते हैं और हमारा जीवन सीमित हो जाता है। हमारे जितने अधिक ऊर्जा शरीरों का विकास होता है उतना ही विकसित और पूर्ण हमारा जीवन अनुभव होता है। ऊर्जा शरीर के सात कोशों के अनुसार हमारे जीवन अनुभव भी सात स्तर के होते हैं। हर स्तर का अनुभव भी आवृति और शक्ति के अनुसार अलग होता है।

<u>प्रथम ऊर्जा शरीर</u> – यह ऊर्जा शरीर भौतिक संवेदना का शरीर है। इस ऊर्जा शरीर में हम भौतिक शरीर के सुख–दुःख अनुभव करते हैं। जब कभी भौतिक शरीर में पीड़ा होती है तो इस ऊर्जा शरीर में भी गड़बड़ी हो जाती है। संवेदनशील लोगों में यह ऊर्जा शरीर सूक्ष्म, पतला और हल्के नीले रंग का होता है और हट्टे–कट्टे लोगों में यह थोड़ा मोटा और गहरे नीले रंग का होता है। जो लोग अपने शरीर के प्रति विशेष आश्वस्त और सावधान होते हैं जैसे खिलाड़ी, नृत्यांगनाएँ,

पहलवान आदि, उनका प्रथम ऊर्जा शरीर विकसित होता है। यदि आपका यह ऊर्जा शरीर शक्तिशाली है तो आपका भौतिक शरीर भी शक्तिशाली एवं स्वस्थ होगा। यदि आप अपने शरीर की परवाह नहीं करते हैं तो आपका यह ऊर्जा शरीर कमजोर और विरल हो जायेगा। बहुत कमजोर होने पर व्यक्ति भौतिक शरीर को ही भार की तरह अनुभव करने लगता है और उसकी किसी प्रकार की भौतिक शारीरिक गतिविधि में भाग लेने की इच्छा समाप्त सी हो जाती है।

द्वितीय ऊर्जा शरीर – यह ऊर्जा शरीर हमारी स्वयं के प्रति भावनाओं से संबंध रखता है। इस शरीर की प्रत्येक ऊर्जा हलचल का संबंध हमारी अपने प्रति भावना से है। हमारी अपने प्रति सकारात्मक भावना होने पर यह शरीर चमकीले रंग का होता है और हमारे प्रति नकारात्मक भावना से इसका रंग गहरा और गंदा होता है। इस ऊर्जा शरीर में सभी प्रकार के रंग होते हैं। इस शरीर से ऊर्जा प्रवाह प्रथम ऊर्जा शरीर में होता है। जब व्यक्ति अपनी भावनाओं को प्रकट कर देता है तो इस ऊर्जा शरीर में संतुलन बना रहता है। नकारात्मक भावना होने पर भी इस शरीर की नकारात्मक ऊर्जा बाहर निकल जाती है और संतुलन बना रहता है। यदि आप अपनी भावनाओं के प्रति असंवेदनशील हो जाते हैं तो इस शरीर में ऊर्जा का प्रवाह बंद हो जाता है। ऐसी दशा में इस ऊर्जा शरीर के रंग गहरे और गन्दे हो जाते हैं। यह स्थिति पहले और तीसरे ऊर्जा शरीरों को भी प्रभावित करती है और अन्ततः हमारा भौतिक शरीर भी प्रभावित होता है। दूसरे ऊर्जा शरीर के शक्तिशाली और ऊर्जावान होने पर व्यक्ति स्वयं से अच्छे भावनात्मक संबंध का आनन्द लेता है यानि आप अपने आपको पसन्द करते हैं और स्वयं से प्रेम करते हैं। इस शरीर के कमजोर होने पर आपकी अपने प्रति विशेष भावना नहीं होगी और हो सकता है कि आप अपने आपको भी पसन्द नहीं करें और अवसादग्रस्त रहें। जब आपके प्रथम और द्वितीय दोनों ऊर्जा शरीर ऊर्जावान हैं तो आप सभी शारीरिक सुख भोगते हुए भी अपने आपसे प्रेम करेंगे और अपने को अच्छा अनुभव करेंगे।

तृतीय ऊर्जा शरीर – इस शरीर का संबंध मन से है। इसका रंग हल्के नींबू रंग का होता है और यह तेजी से स्पन्दन करता रहता है। इस शरीर के संतुलित होने की दशा में हमारा समझदार मन और हमारी अंतः कल्पनाशक्ति दोनों साथ–साथ काम करते हैं और हमारी सोच स्पष्ट, संतुलित और प्रासंगिक होती है। तृतीय ऊर्जा शरीर के कमजोर होने पर परिपक्व और स्पष्ट सोच का अभाव हो जाता है। ऐसी दशा में पढ़ाई–लिखाई और अन्य मस्तिष्कीय कार्य में आपकी रूचि नहीं होती है। जब आपके प्रथम और द्वितीय ऊर्जा शरीर कमजोर हैं और तृतीय ऊर्जा शरीर

शक्तिशाली है तो आपका व्यक्तित्व मानसिक अधिक और भौतिक तथा भावनात्मक कम होगा। आप अपने शरीर और भावनाओं की उपेक्षा करते हुए मानसिक व्यायाम में रूचि लेंगे और आपका जीवन सीमित हो जायेगा। द्वितीय और चतुर्थ ऊर्जा शरीर में भावनाओं के कुंठित होने पर तृतीय ऊर्जा शरीर में नकारात्मक सोच उत्पन्न होने लगती है। शायद नकारात्मक सोच हमारी संस्कृति की देन है। हम दूसरों के बारे में नकारात्मक सोचते है और पीठ पीछे उनकी निंदा करते हैं परन्तु उनके मुँह पर खुलकर बात नहीं करते।

चतुर्थ ऊर्जा शरीर – इस शरीर का संबंध लोक व्यवहार से है। इसके माध्यम से हम दूसरे लोगों, पशु–पक्षियों, पेड़–पौधों, बेजान वस्तुओं, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, तारों और सारे विश्व के साथ प्रतिक्रिया करते हैं। यह शरीर "मैं और तुम" से संबंध रखता है। इस शरीर में भी सभी रंग होते हैं। यह शरीर ऊँची आवृति का होते हुए भी द्वितीय शरीर से अधिक सघन होता है। इस शरीर के कमजोर होने पर शरीर पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति को दर्द, बैचेनी, भारीपन, थकान और अस्वस्थता का अनुभव होता है।

चतुर्थ शरीर की ऊर्जा कमरे में दूसरे व्यक्ति तक पहुँच सकती है। जब दो व्यक्ति आपस में बात करते हैं तो दोनों के चतुर्थ ऊर्जा शरीर आपस में मिल जाते हैं। दोनों व्यक्ति की भावनाओं के अनुसार मिलने वाली ऊर्जा का रंग अलग–अलग होता है और तरंगों की गति भी भिन्न–भिन्न होती है। जब हमारा चतुर्थ ऊर्जा शरीर शक्तिशाली, स्वस्थ और ऊर्जावान होता है तो हमारे दूसरों के साथ संबंध अच्छे और घने होते हैं। हमारे परिवारजन और मित्रों का हमारे जीवन में अहम् स्थान होता है। आप लोगों के साथ रहना पसन्द करते हैं और समाज सेवा की भावना रखते हैं तथा दूसरों से प्रेम करते हैं। इस शरीर के कमजोर होने पर व्यक्ति दूसरों के साथ संबंध रखने को अहमियत नहीं देता और अकेला रहना पसन्द करता है। यदि संबंध रहते भी हैं तो आपको ये परेशानी के कारण लगते हैं। ऐसी दशा में दूसरे व्यक्ति आप पर हावी हो सकते हैं।

आगे के तीन ऊर्जा शरीर हमारे आध्यात्मिक जगत के भौतिक, भावनात्मक और मानसिक अनुभवों से संबंध रखते हैं। ये पहले तीन ऊर्जा शरीरों के सांचे हैं। यानि सातवाँ शरीर तृतीय शरीर का, छठा शरीर द्वितीय शरीर का और पाँचवा शरीर प्रथम शरीर का सांचा है।

पाँचवा ऊर्जा शरीर – इस शरीर का संबंध दिव्य इच्छाशक्ति से है। यह ऊर्जा शरीर प्रथम ऊर्जा शरीर के लिए सांचे की तरह कार्य करता है और उसकी

स्थिति बनाये रखता है। पाँचवा ऊर्जा शरीर हमारे शरीर का आकार और स्वरूप ही तय नहीं करता बल्कि हमारा पूरा जीवन ही निर्धारित करता है।

पाँचवे ऊर्जा शरीर के अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करना बहुत कठिन है। यह दिव्य इच्छाशक्ति आपके अन्दर और आपके चारों तरफ व्याप्त है। आप स्वतंत्र हैं कि आप अपने आप को इस दिव्य इच्छाशक्ति के अनुरूप ढ़ाल लें या नहीं। यह दिव्य इच्छाशक्ति समस्त मानव जाति और विश्व के उत्कर्ष के लिए निरन्तर क्रियाशील और जीवन्त रहती है। इसको अनुभव करना उस परम सत्ता के अनुपम साम्राज्य को अनुभव करना है। जब आप अपने आपको इस दिव्य ईच्छाशक्ति के अनुरूप ढ़ाल लेते हैं तो आपका पाँचवा ऊर्जा शरीर शक्तिशाली और ऊर्जावान हो जाता है। तब आप स्वयं शक्ति से भरपूर और अपने आसपास के वातावरण से पूर्ण रूप से एक–मेक पाते हैं। आप अनुभव करेंगे कि आप उस परम सत्ता की दिव्य ईच्छा शक्ति को जीवन्त रूप में जी रहे हैं और उस दिव्य योजना में आपकी भी कोई जगह है।

जब आपका पाँचवा शरीर शक्तिशाली होता है तब आपके जीवन में ईश्वर का अनुशासन उतर आता है। आप हर कार्य उसी अनुशासन से करने लगते हैं चाहे वह घर की सफाई हो या आपका व्यवसाय हो। हर कार्य समय पर होता है और हर कार्य एक उच्च प्रयोजन के लिए होता है। परन्तु जब आप उस दिव्य ईच्छाशक्ति के अनुरूप कार्य नहीं करते हैं तो आपका पाँचवा शरीर वक्र हो जाता है। वह अब उच्च प्रयोजन के लिए प्रेरित नहीं होता और आपका अपने वातावरण से सम्पर्क टूट सा जाता है। आप उच्च प्रयोजन को और उसमें अपनी भूमिका को भूल जाते हैं। ये सब बातें आपके लिए अर्थहीन हो जाती हैं और ऐसा लगता है कि कोई दूसरा आपके लिए स्थान का निर्धारण कर रहा है। ऐसा होना आपको अच्छा भी नहीं लगता। आपको दिव्य सत्ता की सामग्री व्यवस्था समझ में ही नहीं आती।

छठा ऊर्जा शरीर – इस शरीर का संबंध दिव्य प्रेम और आध्यात्मिक आनन्द से है। यह ऊर्जा शरीर भौतिक शरीर से चारों तरफ निकलने वाली सुन्दर और रंग बिरंगी प्रकाश रश्मियों के रूप में दिखाई देता है जो शरीर से दो–ढ़ाई फीट दूर तक जाती हैं। इस ऊर्जा शरीर में हम आत्मा की अनुभूति करते है और दिव्य प्रेम का अनुभव करते हैं। अपने चंचल मन को शांत करने के उपरांत ही हम इस स्तर तक पहुँच पाते हैं। इस अवस्था में हम मनुष्य, पशु, पक्षी सबके साथ आत्मीयता अनुभव करते हैं। जब हमारा छठा ऊर्जा शरीर कमजोर होता है तो हमें आध्यात्मिक और प्रेरणास्पद अनुभव नहीं होते हैं और न इस तरह के अनुभव की आवश्यकता महसूस

होती है।

यदि आपका छठा ऊर्जा शरीर नीचे के पाँच ऊर्जा शरीरों से बहुत अधिक शक्तिशाली है तो आप भौतिक संसार की उपेक्षा करके सीधे आध्यात्मिक अनुभव के लिए प्रयास करते हैं। आपको सांसारिक जीवन बच्चों का खेल लगता है और आप महसूस करते हें कि आपका जीवन केवल अध्यात्म के लिए है। ऐसे अनुभव आपमें एक विशिष्ट व्यक्तित्व पैदा करते हैं और आप अपने आपको दूसरों से बेहतर महसूस करते हैं। सम्भवतया यह भौतिक जीवन के भय के विरोध में सुरक्षात्मक विचार है जो जल्द ही टूट सकता है। तब आप भौतिक जीवन में लौट जाते हैं और अनुभव करने लग जाते हैं कि भौतिक जीवन अध्यात्मिक जीवन से बाहर नहीं बल्कि उसके अन्दर ही है।

सातवाँ ऊर्जा शरीर – इस ऊर्जा शरीर का संबंध दिव्य मन और आनन्द से है। स्वस्थ अवस्था में यह शरीर ऊँची आवृति वाली सुनहरी सुन्दर ऊर्जा रेखाओं के रूप में होता है। ये ऊर्जा रेखाएँ इस प्रकार गुंथी हुई होती हैं ये हमारे भौतिक शरीर का रेखाचित्र प्रस्तुत करती हैं और शरीर से तीन से साढ़े तीन फीट तक बाहर निकलती हुई एक अण्डाकार वलय बनाती हैं। यह वलय एक सुरक्षा कवच का काम करता है। यह वलय हमारे शरीर से ऊर्जा का अन्दर से बाहर रिसाव रोकता है तथा बाहर से हानिप्रद ऊर्जा का प्रवेश भी नहीं होने देता है। यह ऊर्जा शरीर सभी ऊर्जा शरीरों को बाँधे रखता है।

जब यह ऊर्जा शरीर स्वस्थ होता है और जब हम अपनी चेतना को इसके स्तर तक विकसित कर लेते हैं तब हम अपने अन्दर दिव्य मानसिकता का अनुभव करते हैं और वैश्विक दिव्य मन के जगत में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ हम अनुभव करते हैं कि हम एक विराट चेतना के भाग हैं। इस प्रकार की भावना से हम एक सुरक्षा और पूर्णता का अनुभव करते हैं। हमारे में दूसरे के मन से संवाद करने की क्षमता भी उत्पन्न हो जाती है और विराट मन से सम्पर्क भी होने लगता है।

जब सातवाँ ऊर्जा शरीर शक्तिशाली, स्वस्थ और ऊर्जावान होता है तब हमारी सृजनात्मकता का विकास हो जाता है और हम हमारे अस्तित्व का प्रयोजन तथा विश्व को बहुत स्पष्टता से समझने लग जाते हैं। हम यह भी समझने लग जाते हैं कि इस विराट विश्व में हमारी क्या भूमिका है। आपकी स्पष्ट और समग्र विचारधारा आपको धार्मिक नेता, वैज्ञानिक, आविष्कर्ता, शिक्षक आदि बना सकती है। रूग्ण अवस्था में सातवाँ ऊर्जा शरीर कमजोर हो जाता है और यह जगह–जगह टूट भी सकता है जहाँ से हमारे शरीर की ऊर्जा बाहर निकल सकती है। हमें पूर्णता का

अनुभव नहीं हो सकता, बल्कि हम सोचने लग जाते हैं कि मनुष्य शरीर के होते हुए पूर्णता का प्रयास व्यर्थ है। हमारी सृजनात्मकता का विकास अवरूद्ध रहता है। यदि आपका सातवाँ ऊर्जा शरीर अन्य सब शरीरों में अधिक शक्तिशाली है तो आपको अपने सृजनात्मक विचारों को व्यवहारिक बनाने में कठिनाई होगी। अच्छी सृजनात्मकता के लिए सभी ऊर्जा शरीरों को शक्तिशाली होना चाहिए और तभी आप समग्रता का अनुभव कर पाऐंगे।

5.4 आभामण्डल

आभामण्डल को तेजोवलय, प्रभामण्डल या औरा भी कहा जाता है। आभामण्डल संपूर्ण शरीर के इर्द–गिर्द छाया रहता है। पैरों की ओर उसका घेरा कम होता है। क्रमशः वह अधिक चौड़ा होता जाता है और मस्तिष्क तक पहुँचते पहुँचते उसकी चौड़ाई प्रायः डयोढ़ी हो जाती है।

प्राणी का आभामण्डल दो प्रकार की ऊर्जाओं के संयुक्त विकिरण से बनता है – एक चैतन्य द्वारा प्राण ऊर्जा का विकिरण और दूसरा भौतिक शरीर द्वारा विद्युत–चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण। व्यक्ति के सभी ऊर्जा शरीरों का सम्मिलित प्रभाव आभामण्डल में व्याप्त होता है। आभामण्डल में विद्युतकण, चुम्बकत्व, रेडियो विकिरण, चेतनायुक्त ऊर्जा भरी रहती है। इसे यंत्रों से भी जाना या मापा जा सकता है और समीपवर्ती लोग इसे अपने शरीर और मन पर पड़ने वाले अदृश्य प्रभाव के आधार पर अनुभव कर सकते हैं। कई व्यक्तियों की समीपता अनायास ही बड़ी सुखद, प्रेरणाप्रद और हितकर होती है। कइयों का सानिध्य अरूचिकर और कष्टकर प्रतीत होता है। इसका वैज्ञानिक कारण व्यक्तियों के शरीर से निकलने वाली इस ऊर्जा का पारस्परिक आकर्षण–विकर्षण ही होता है। समान प्रकृति के लोगों की ऊर्जा घुलती–मिलती है और सहयोग–प्रोत्साहन प्रदान करती है, पर यदि समीपवर्ती व्यक्तियों की प्रकृति में प्रतिकूलता हो, तो वह ऊर्जा टकराकर वापस लौटेगी और घृणा, अरूचि, अप्रसन्नता, खीज् जैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी।

रूसी वैज्ञानिक एस.डी. किरलियन ने ऐसे कैमरे का अविष्कार किया जिससे आभामण्डल के चित्र लिए जा सकते हैं। उन्होंने पेड़ की पत्तियों और शरीर के विभिन्न अंगों पर कई प्रयोग किए और आवरण के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। औरा जीव और अजीव दोनों में होती है। अजीव में औरा निश्चित होती है वह बदलती नहीं। जीव की औरा अनिश्चित होती है, बदलती रहती है। कभी उसके रंग अच्छे हो जाते है और कभी बुरे हो जाते है और यह इसलिए होता है कि उसको

बदलने वाला लेश्या–तंत्र, भाव तंत्र हमारे भीतर विद्यमान है। प्राणी की औरा का नियामक तत्व लेश्या है।

आकल्ट साइन्स के पुरस्कर्ताओं ने औरा के दो प्रकार बतलाए हैं –

1. इमोशनल औरा (भावनात्मक आभामण्डल)
2. मेन्टल औरा (मानसिक आभामण्डल)

लेश्या भी दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की लेश्या का संबंध है कषाय से और दूसरी प्रकार लेश्या का संबंध योग से है। योग लेश्या मानसिक आभामण्डल का निर्माण करती है और कषाय–लेश्या भावनात्मक आभामण्डल का निर्माण करती है। कषाय का स्रोत जितना तीव्र होता है, हमारी शक्तियाँ उतनी ही क्षीण होती हैं, तैजस शरीर दुर्बल बनता चला जाता है। चंचलता अधिक होती है, आभामण्डल क्षीण होता जाता है।

हमारे सूक्ष्म जगत् में घटित होने वाले सारे निर्देशों का संवाहक आभामण्डल है। अध्यवसाय में, कर्म शरीर में घटित होने वाली घटनाऐं, जो सूक्ष्म स्पन्दन के रूप में घटित हो रही हैं, उनको भाव जगत में उतारने वाला आभामण्डल है। भाव जगत में जो घटनाएँ उतरती हैं, उनके सारे निर्देश आभामण्डल में पहुँचते हैं।

जैसा भावमण्डल वैसा आभामण्डल। जब तेजोलेश्या का आभामण्डल बनता है तब विचारों के लिए दरवाजे बन्द हो जाते हैं। जब पद्मलेश्या का आभामण्डल बनता है तब बुरे विचार अन्दर प्रवेश नहीं पा सकते। जब शुक्ल लेश्या का आभामण्डल बनता है तब बाहर का संक्रमण बन्द हो जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति अकेला बनता है। समूह में रहते हुए भी वह अकेला बन जाता है। जब आभामण्डल शक्तिशाली बन जाता है तब व्यक्ति बाहरी प्रभाव से प्रभावित नहीं होता।

आभामण्डल यह बता देगा कि व्यक्ति कैसा है। आभामण्डल में काले रंग की प्रधानता हो तो मानना चाहिए कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक नहीं है, आकांक्षा प्रबल है, प्रमाद प्रचुर हैं, कषाय का आवेग प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन और काया का संयम नहीं है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं है, प्रकृति क्षूद्र है, बिना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिंसा में रस लेता है।

आभामण्डल में नील वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि व्यक्ति में ईर्ष्या, कदाग्रह, माया, निर्लज्जता, आसक्ति, प्रद्वेष, शठता, प्रमाद, यशलोलुपता, सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्विता, अविद्या, हिंसा में प्रवृति है।

आभामण्डल में कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि

व्यक्ति में वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, प्रवंचना, अपने दोषों को छिपाने की प्रवृति, मखौल करना, दुष्ट वचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्या दृष्टि आदि की प्रवृति होती है।

आभामण्डल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि व्यक्ति नम्र व्यवहार करने वाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल न करने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म में दृढ़ आस्था रखने वाला, पाप भीरू और मुक्ति की गवेषणा करने वाला है।

आभामण्डल में पीत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि वह व्यक्ति अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाला, प्रशान्त चित्त वाला, समाधिस्थ, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय और आत्मसंयम करने वाला है।

आभामण्डल में श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि वह व्यक्ति प्रशान्त चित्त वाला, जितेन्द्रिय, मन, वचन, काया का संयम करने वाला, शुद्ध आचरण से सम्पन्न, ध्यानलीन और आत्मसंयम करने वाला है।

आभामण्डल मृत्यु के अनेक महीनों पूर्व उतरने लग जाता है, मृत्यु की पूर्व घोषणा की जा सकती है। देवताओं का आभामण्डल छः महीने पूर्व क्षीण होने लगता है। मृत्यु के बाद तुरन्त ही आभामण्डल समाप्त नही हो जाता। मृत्यु के बाद आभामण्डल की दीप्ति मंद होती–होती न्यूनतम स्थिति तक पहुँचती है। जब व्यक्ति की हृदय और श्वांस की गति बन्द हो जाती है, तब शरीर से बाहर "धारियों" के रूप में आभामण्डल निकलने लगता है। छह घंटे तक वह चलता रहता है, इसके बाद अवशिष्ट आभा ठीक वैसी ही हो जाती है, जैसे पत्थर जैसे निर्जीव पदार्थों के आभामण्डल में पाई जाती है।

आभामण्डल के अस्तित्व के पक्ष में प्रमाण के लिए कुछ वैज्ञानिकों ने आभामण्डल की शरीर में होने वाली प्रतिक्रिया का अध्ययन किया। यू.सी.एल.ए. केलिफोर्निया की प्रोफेसर वेलेरी हन्ट ने मानव शरीर में पाई जाने वाली उच्च आवृति की क्षणिक विद्युत आवेग को मापने का एक तरीका खोजा है। वे मांसपेशियों में व्यायाम के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले विद्युत आवेगों का अध्ययन कर रही थी। सामान्यतया ऐसे विद्युत आवेगों की आवृति 250 हर्ट्ज़ से अधिक नहीं होती। जो आवेग वेलेरी हन्ट को प्रयोग में पाए गए उनमें कुछ अल्प शक्ति वाले आवेग 1600 आवृति तक के थे, जो मांसपेशियों से उत्पन्न नहीं हो सकते। जाँच करने पर पाया गया कि ये आवेग एक निश्चित समयावधि पर उत्पन्न हो रहे थे। वेलेरी ने अनुमान लगाया कि ये आभामण्डल के कारण हो सकते हैं। इस अनुमान को प्रमाणित करने

के लिए उसने ऐसे लोगों पर प्रयोग किए जिन्हें किसी प्रकार की कुछ अतीन्द्रिय क्षमता प्राप्त थी। उसने पाया कि आवेगों की आवृति का संबंध आभामण्डल के रंग से है। अपने परिणामों की व्याख्या करते हुए उसने पाया कि मनुष्यों की गुणों की परख उनके ऊर्जा शरीर से प्राप्त आवेगों से की जा सकती है। यह देखा गया कि भौतिकवादी विचारों वाले लोगों से प्राप्त आवृति 250 हर्ट्ज से अधिक नहीं होती। चिकित्सक लोगों में यह आवृति 400 से 800 हर्ट्ज तक होती है। जिन लोगों में कुछ अंतर्ज्ञान होता है उनकी आवृति 900 हर्ट्ज से अधिक होती है। इस तरह के परिणाम अन्य वैज्ञानिकों द्वारा भी पाए गए हैं।

उपरोक्त प्रयोग परोक्ष रूप से यह बताते हैं कि ऊर्जा शरीरों का अस्तित्व है और उनकी प्रकृति व्यक्ति के गुण स्वभाव पर निर्भर करती है। आभामण्डल के रंगों की व्याख्या में अध्यात्मवेत्ताओं और वैज्ञानिकों में मतैक्य नहीं है। वैज्ञानिकों ने आभामण्डल के रंगों की व्याख्या इस प्रकार की है।

सारणीः ऊर्जा शरीर की आवृत्ति का आभामण्डल के रंग और चक्र से संबंध

रंग	ऊर्जा शरीर की मध्य आवृत्ति (लगभग)	चक्र
गहरा नीला	200	मूलाधार
हरा	300	स्वाधिष्ठान
पीला	400	नाभि, मणिपुर
लाल	500	अनाहत
नारंगी	600	विशुद्धि
हल्का नीला	700	आज्ञा चक्र
बैंगनी	800	सहस्रार
क्रीम, सफेद	1000	एस्ट्रल शरीर
सुनहरा	1400	मेन्टल शरीर

व्यक्तित्व पर आभामण्डल की भारी छाप रहती हैं। प्रायः यह जन्म–जन्मान्तरों के अभ्यास, प्रयास एवं संस्कार के आधार पर विनिर्मित होता है, पर मनुष्य अपनी स्वतंत्र चेतना का उपयोग करके उसे बदल भी सकता है। सामान्य स्तर के लोग इस बने बनाए आभामण्डल के अनुसार अपना स्वभाव और कर्म बनाए रहते हैं, पर मनस्वी लोग अपनी सुदृढ़ संकल्प शक्ति से अपनी अभ्यस्त आंतरिक एवं बाह्य स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन भी कर सकते हैं। तब विनिर्मित आभामण्डल में भी वैसा ही

परिवर्तन हो जाता है। उसके रंगों में, कंपनों के जाल में इस परिवर्तन का हेर–फेर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

5.5 समीक्षा

ऋषियों के अनुसार मनुष्य के शरीर में पाँच प्रकार के व्यक्तिव, पाँच चेतना कोश, पाँच तत्व विद्यमान हैं जिन्हें पाँच कोश कहा गया है। ये पाँचों कोश पृथक्–पृथक् होते हुए भी एक ही मूलकेन्द्र से जुड़े हुए हैं। इन पाँचों को मिलाकर एक पूर्ण मानवी सत्ता बनती है। ये सामान्यतया मूर्च्छित, प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं तथा इन पाँचों में एकरूपता नहीं होती जिसके फलस्वरूप मनुष्य किसी एक लक्ष्य की ओर प्रगति नहीं कर पाता। इन पाँच कोशों में एक के बाद दूसरे की महत्ता तथा समर्थता अपेक्षाकृत अधिक है अर्थात् अन्नमय कोश सबसे कम समर्थ है और आनन्दमय कोश सबसे अधिक समर्थ है। साधना से इन कोशों को जीवित करने वाला व्यक्ति देवता स्तर का बन जाता हैं। पाँचों कोशों को जागृत करने के लिए ऋषियों ने विशिष्ट साधनाएँ बताईं हैं। ज्यों–ज्यों ये कोश जागृत होते हैं व्यक्ति को उसका फल सद्गुण, सद्भाव, शक्ति और सामर्थ्य के रूप में मिलने लग जाता है, उसकी चेतना विकसित हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इन चेतना शरीरों को ऊर्जा शरीरों की संज्ञा दी है। हर ऊर्जा शरीर की अपनी आवृत्ति है। बाहर वाले ऊर्जा शरीर की आवृति उसके अन्दर वाले ऊर्जा शरीर की आवृति से अधिक है। बाहर से आने वाले संकेत अपनी आवृति के समान आवृति वाले ऊर्जा शरीर में पहुँच जाते हैं। मनुष्य के चार ऊर्जा शरीर बताए गये हैं – इथरिक, एस्ट्रल, मेन्टल और स्पिरिचुअल। इथरिक शरीर में सात चक्रों की स्थिति बताई गई है। बारबरा एन ब्रेनन ने सात ऊर्जा शरीरों का विचार रखा है। इनमें प्रथम चार शरीर उपरोक्त चार शरीरों से ही मिलते जुलते हैं और शेष तीन शरीर, इथरिक, एस्ट्रल और मेन्टल शरीरों के साँचे के रूप में कार्य करते हैं। इन सभी ऊर्जा शरीरों के जागृत होने पर ही समग्र व्यक्तित्व का विकास होता है, अन्यथा मनुष्य का व्यक्तित्व खंडित ही रहता है। पहले चार शरीर लौकिक व्यवहार से अधिक संबंध रखते हैं और अन्तिम तीन का संबंध मुख्यतया आध्यात्मिक उत्कर्ष से है। ये ऊर्जा शरीर एक दूसरे को भी आपस में प्रभावित करते हैं और सभी मिलकर हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

सभी चेतना कोशों या ऊर्जा शरीरों का सम्मिलित रूप व्यक्ति का आभामण्डल है। हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले सभी कारक हमारे आभामण्डल में रंग, रेखा,

बिन्दु, रेखाचित्र, स्पन्दन या रश्मियों के रूप में अंकित हो जाते हैं। आभामण्डल में हमारे स्थूल शरीर से आने वाले विद्युत–चुम्बकीय विकिरण और पंच कोशों या ऊर्जा शरीरों से उत्पन्न चैतन्य प्राण–ऊर्जा के विकिरण मिश्रित रूप में विद्यमान रहते हैं। रंग आभामण्डल की प्रकृति का मुख्य परिचायक तत्व है। यह रंग हमारी भावनाओं यानि लेश्या पर निर्भर करता है। अध्यवसाय में, कर्म शरीर में घटित होने वाली घटनाएँ, जो सूक्ष्म स्पन्दन के रूप में घटित हो रही हैं, वे आभामण्डल के सहारे भाव जगत् में पहुँचती है। भाव जगत् में जो घटनाएँ उतरती हैं, उनके सारे निर्देश आभामण्डल में पहुँचते हैं।

आभामण्डल और स्थूल शरीर दूध और पानी की तरह मिले रहते हैं परन्तु आभामण्डल का कुछ अंश स्थूल शरीर से बाहर भी निकला रहता है। आभामण्डल के जिस कोश की आवृति अधिक होती है, वह उतना ही अधिक शरीर से दूरी तक विद्यमान रहता है। आभामण्डल में प्राणों का प्रवाह होता है और यह प्राण स्नायुतंत्र के माध्यम से स्थूल शरीर के अंग–अवयवों को ऊर्जा प्रदान करता है। आभामण्डल में हमारे भाव और विचार रहते हैं जिनका अस्तित्व सम्भवतया रश्मि–पुंज, विशिष्ट स्पन्दन वाले विद्युत–चुम्बकीय पुंज या अन्य सांकेतिक रचना आदि से निर्मित बिन्दु, रेखा या रेखाचित्र के रूप में होता है। चूँकि हमारे विचार और भाव प्रति क्षण बदलते रहते हैं इसलिए ऐसे पुंज हमारे आभामण्डल से निरन्तर वायुमण्डल में प्रवाहित होते रहते हैं और आभामण्डल में पुराने पुंज की जगह नये पुंज निर्मित होते रहते हैं। इस प्रकार यह एक सतत् गतिशील प्रक्रिया है। आभामण्डल से बाहर जाने वाले पुंज समान प्रकृति वाले दूसरे व्यक्ति के आभामण्डल में भी प्रवेश कर सकते हैं या फिर अन्तरिक्ष में गमन कर सकते हैं। अन्तरिक्ष में इनका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता वरन् ब्रह्माण्ड में ऐसे अनन्तानन्त पुंज अनन्त काल तक बने रह सकते हैं। जिस प्रकार रेडियो वायुमण्डल में व्याप्त संकेतों को ग्रहण कर ध्वनि उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार मनुष्य भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त विचारों और भावों को ग्रहण कर सकता है। जैसी मनुष्य की प्रकृति होती है यानि जिस आवृति के लिए उसका शरीर ट्यून्ड होता है वैसे ही भाव या विचार वह व्यक्ति ग्रहण करता है। इस प्रकार जैसा हम सोचते हैं हमारे वैसे ही विचार पुष्ट होते जाते हैं। आइन्स्टीन की जैसी विचार शैली थी उसी प्रकार के विचार उसे ब्रह्माण्ड से प्राप्त होते थे। प्राचीन काल में हमारे ऋषियों का जैसा चिंतन था वैसे ही विचार उनके मस्तिष्क में उतरते थे। विशिष्ट अवस्था में कई ऋषियों को इसी प्रकार दिव्य विचारों की अनुभूति हुई होगी और उन्होंने वैदिक ऋचाओं का निर्माण किया होगा। क्या इसीलिए वेदों को अपौरूषेय कहा जाता है?

कुछ भी हो, ऐसा लगता है कि सभी प्रकार के विचार और भाव ब्रह्माण्ड में तैरते रहते हैं और व्यक्ति उसकी प्रकृति, सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार इन विचारों को अनुभूत कर सकता है।

5.6 संदर्भ

1. गायत्री महाविज्ञान भाग 3 – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
2. कार्य ऊर्जा एवं उसकी चमत्कारी सामर्थ्य – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
3. दिव्य शक्तियों का उद्‌भव प्राणशक्ति से – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
4. आभामण्डल – आचार्य महाप्रज्ञ
5. चित्त और मन – आचार्य महाप्रज्ञ
6. Hands of Light - बारबरा एन. ब्रेनन
7. बारबरा एन ब्रेनन व अन्य वेबसाइट

अध्याय 6

चक्र एवं ग्रंथितंत्र

6.1 योगशास्त्र में चक्र

शरीर विज्ञान के अनुसार पोले मेरूदण्ड मे नाड़ियाँ हैं। अध्यात्म विज्ञान के अनुसार उनमें प्रमुख नाड़ियाँ हैं। (1) इड़ा (2) पिंगला (3) सुषुम्ना। इनका संबंध सूक्ष्म जगत से है ये आँखों से दिखाई नहीं देती। यह एक प्रकार का विद्युत प्रवाह हैं। इड़ा को नेगेटिव और चन्द्र नाड़ी तथा पिंगला को पोजेटिव और सूर्य नाड़ी कहते हैं। दोनों के मिलने से जो तीसरी शक्ति उत्पन्न होती हैं उसे सुषुम्ना कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी के भीतर एक और त्रिवर्ग है जिन्हें वज्रा, चित्रणी और ब्रह्म नाड़ी कहते हैं। वज्रा के भीतर चित्रणी और चित्रणी के भीतर ब्रह्म नाड़ी है। यह ब्रह्म नाड़ी सब नाड़ियों का मर्मस्थल, केन्द्र एवं शक्तिसार है। यह ब्रह्मनाड़ी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर हजारों भागों में चारों और फैल जाती है जिसे सहस्रदल कमल कहते हैं। मेरूदण्ड के नीचे अन्तिम भाग के समीप यह ब्रह्म नाड़ी एक काले वर्ण के षटकोण वाले परमाणु से लिपटकर बंध जाती है। इस परमाणु को कुर्म कहा गया है, क्योंकि इसकी आकृति कछुए जैसी है। इस गुन्थन स्थल को "कुण्डलिनी" कहते हैं। यह साढ़े तीन लपेटे उस कुर्म मे लगाए हुए है और मुँह नीचे को है। जैसे येुरनियम, और प्लूटोनियम धातु में परमाणुओं को तोड़ना अन्य पदार्थो के परमाणुओं की अपेक्षा अधिक सरल है, उसी प्रकार कुण्डलिनी स्थित स्फुल्लिंग परमाणुओं की गतिविधि को इच्छानुकूल संचालित करना अधिक सुगम है।

मेडम ब्लेवेटस्की ने कुण्डलिनी शक्ति के बारे में काफी खोजबीन की है। वे लिखती हैं "कुण्डलिनी विश्वव्यापी सूक्ष्म विद्युत शक्ति है, जो स्थूल बिजली की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली है, इसकी चाल सर्प की चाल की तरह होती है, इससे इसे सर्पाकार कहते हैं। प्रकाश 185000 मील प्रति सैकण्ड चलता है, पर कुण्डलिनी की गति एक सैकण्ड मे 345000 मील है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसे "स्प्रिट फायर", "सरपेन्टपावर" कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति के मूल तक पहुँचने के मार्ग में छः फाटक लगे हैं जिन्हें षटचक्र कहते हैं जो ब्रह्मनाड़ी से संबंधित हैं। ये षटचक्र एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रंथियां हैं जो ब्रह्मनाड़ी के मार्ग में बनी हुई हैं। ये ग्रंथियां गोल नहीं होती वरन् उनमे इस प्रकार के कोण निकले होते हें, जैसे पुष्प में पंखुड़ियाँ होती हैं। इन कोण या पंखुड़ियों को पद्मदल कहते हैं। ये एक प्रकार के तन्तु गुच्छक हैं। इन चक्रों में होता

हुआ प्राणवायु आता जाता है, उसका मार्ग उन ग्रंथि की स्थिति के अनुसार कुछ टेढ़ा मेढ़ा होता है। इस गति की आकृति कई देवनागरी अक्षरों की आकृति से मिलती है, इसलिए ये वायुमार्ग चक्रों के अक्षर कहलाते हैं।

प्राण–वायु का सुषुम्ना प्रवाह इन चक्रों मे होकर द्रुतगति से गुजरता है तो वहाँ एक प्रकार से सूक्ष्म भंवर पड़ते हैं, जिनकी आकृति चतुष्कोण, अर्धचन्द्राकार, त्रिकोण, षटकोण, गोलाकार, लिंगाकार तथा पूर्ण चन्द्राकार बनती है। इन आकृतियों को चक्रों के यन्त्र कहते हैं।

चक्रों में पंचतत्वों में से एक तत्व की प्रधानता रहती है, जिस चक्र में जो तत्व प्रधान होता है वही उसका तत्व कहा जाता है।

ब्रह्मनाड़ी की पोली नली में होकर वायु का अभिगमन होता है तो चक्रों के सूक्ष्म छिद्रों के आघात से उनमें एक वैसी ही ध्वनि होती है जैसी कि वंशी में वायु का प्रवेश होने पर छिद्रों के आघात से ध्वनि उत्पन्न होती है। हर चक्र के सूक्ष्म छिद्र से यँ, लँ, रँ, हँ, ऊँ जैसे स्वरों की ध्वनि सुनाई पड़ती है, इसे चक्रों का बीज कहते हैं।

चक्रों में वायु की चाल में अन्तर होता है। तत्वों के मिश्रण, टेढ़ा–मेढ़ा मार्ग, भँवर, बीज आदि के समन्वय से प्रत्येक चक्र में रक्ताभिसरण, वायु अभिगमन के संयोग से एक विशेष चाल वहाँ परिलक्षित होती है। यह चाल किसी चक्र में हाथी के समान मन्दगामी, किसी मे मगर की तरह डुबकी मारने वाली, किसी में हिरण की – सी छलाँग मारने वाली, किसी में मेंढक की तरह फुदकने वाली होती है, उस चाल को चक्रो का वाहन कहते हैं।

इन चक्रों में विविध देवी शक्तियां सन्निहित हैं। प्रत्येक चक्र में एक पुरूष वर्ग की उष्णवीर्य और एक स्त्री वर्ग की शीत वीर्य शक्ति रहती है क्योंकि धन और ऋण, अग्नि और सोम दोनो तत्व मिले बिना गति और जीव का प्रवाह उत्पन्न नहीं होता, यह शक्तियां ही चक्रों के देवी–देवता हैं।

पंच तत्वों के अपने–अपने गुण होते हैं। पृथ्वी का गंध, जल का रस, अग्नि कर रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का गुण शब्द होता है। चक्रों में तत्वों की प्रधानता के अनुरूप उनके गुण भी प्रधानता में होते हैं। यही चक्रों के गुण हैं।

यह चक्र अपनी सूक्ष्म शक्ति को वैसे तो समस्त शरीर में प्रवाहित करते हैं, पर एक ज्ञानेन्द्रिय और एक कर्मेन्द्रिय से उनका संबंध विशेष रूप से होता है। सम्बन्धित इन्द्रियों को वे अधिक प्रवाहित करते हैं। चक्रों के जागरण के चिन्ह उन इन्द्रियों पर तुरन्त परिलक्षित होते हैं। इसी संबंध विशेष के कारण वे इन्द्रियाँ चक्रों

की इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

मुख से लेकर नाभि तक चक्राकार 'अ' से लेकर 'ह' तक के समस्त अक्षरों की एक ग्रंथि माला है, उस माला के दानों को मातृकायें कहते हैं। इन मातृकाओं के योग–दर्शन द्वारा ही ऋषियों ने देवनागरी वर्णमाला के अक्षरों की रचना की है। चक्रों के देव जिन मातृकाओं से झंकृत होते हैं, सम्बद्ध होते हैं, उन्हें उन देवों की देव शक्ति कहते हैं। ड,र,ल,क,श, के आगे आदि मातृकाओं का बोधक 'किनी' शब्द जोड़कर, डाकिनी, राकिनी, शाकिनी, बना दिए गये हैं। यही देव शक्तियां हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं को समझ लेने के उपरान्त प्रत्येक चक्र की निम्न जानकारी को ठीक प्रकार समझ लेना सुगम होगा। अब छः चक्रों का परिचय नीचे दिया जाता है। षट् चक्रों में उपर्युक्त छः चक्र ही आते हैं। परन्तु सहस्रार को भी कोई कोई लोग सातवाँ शून्य चक्र मानते हैं।

सारणी–चक्र और उनकी विशेषताएँ

क्रमं.	चक्र	स्थान	वर्ण	लोक	दल	दलोंके अक्षर	तत्व	बीज	वाहन	गुण देव	देव शक्ति	यन्त्र	ज्ञानेन्द्रिय
1.	मूलाधार	योनि	लाल	भूःलोक	4	वं,शं,षं,सं	पृथ्वी	लँ	एरावतत	गन्ध	डाकिनी	चतुष्कोण	नासिका
2.	स्वाधिष्ठान	पेडू (शिश्न के सामने)	सिन्दूर	भुवः	6	बं,भं,मं,यं, रं,लं	जल	हँ	मगर	रस	डाकिनी	चन्द्राकार	रसन
3.	मणिपुर	नाभि	नील	स्वः	10	डं,ढं,णं,तं. थं.,दं,धं नं,पं,फं	अग्नि	रं	मेंढ़	रूप	शाकिनी	त्रिकोण	चक्षु
4.	अनाहत	हृदय	अरुण	महः	12	कं,खं,गं,घं, ङं.,चं,छं, जं,झं,यं. टं,ठं.	वायु			स्पर्श	काकिनी	षटकोण	त्वच
5.	विशुद्धि	कण्ठ	धुम्र	जनः	16	अं से लेकर अः तक16अक्षर	आकाश	हं	हाथी	शब्द	शाकिनी	गोलाकार	कर्ण
6.	आज्ञाचक्र	भ्रूमध्य	श्वेत	तपः	02	हं, क्षं	महः	ॐ	नाद		हाकिनी	लिंगाकार	
7.	सहस्त्रार	मस्तक	प्रकाश	सत्य	सहस्त्र	अं से क्षं तक	तत्वों से अतीत	विसर्ग (.)	बिन्दु	प्रकाश निराकार	महाशक्ति	पूर्ण चन्द्रवत	

कुण्डलिनी शक्ति का स्रोत है। कुण्डलिनी शक्ति के षट चक्रों में भी उसका काफी प्रकाश है। षट चक्रों का वेधन करते हुए कुण्डलिनी तक पहुँचना और उसे जागृत करके आत्मोन्नति के मार्ग में लगा देना यह एक महाविज्ञान है। चक्रों का वेधन ध्यान शक्ति के द्वारा किया जाता है। जब कुण्डलिनी जागृत होती है तो उसका

सबसे प्रथम आक्रमण, मन में लगे हुए जन्म–जन्मान्तरों के संस्कारों पर होता है। वह मन की स्थूलता, माया–परायणता को नष्ट कर ब्रह्मभाव में परिणत कर देती है। षट चक्रों के वेधन और कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र में ईश्वरीय दिव्य शक्ति के दर्शन होते हैं और अनेकों गुप्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

6.2 चक्रः पाश्चात्य दृष्टिकोण

अब हम चक्र संबंधी पाश्चात्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करतें हैं। हमारा शरीर ठोस दिखाई देता है परन्तु वास्तव में इसमें 99.99 प्रतिशत आकाशीय जगह है जो भोतिकि वैज्ञानिकों के अनुसार स्पन्दन एवं ऊर्जा से ओतप्रोत परमाणुओं से भरी है। हमारा संपूर्ण शरीर भी एक मूल आवृति से स्पन्दन करता रहता है और यह आवृति लगभग 8 साइकल प्रति सैकण्ड है जो पृथ्वी के विद्युत–चुम्बकीय क्षेत्र की आवृति के बराबर है। इस प्रकार हमारा पृथ्वी से तालमेल बना हुआ है।

हमारे शरीर में स्थित चक्र घूमती हुई घनीभूत ऊर्जा के केन्द्र हैं। विज्ञान के अनुसार ये चक्र विद्युत चुम्बकीय गतिविधि के क्षेत्र हैं जो ब्रह्माण्ड से प्राण ऊर्जा प्राप्त करते हैं और उस ऊर्जा को हमारे शरीर में प्रवाहित करते हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। किसी दिव्य आत्मा को ये चक्र घुमते हुए रंग–बिरंगें दिखाई देते हैं जिनकी धुरी शरीर के मध्य में है। ये चक्र पंखे के समान हैं जिनकी पत्तियाँ फूलों की पंखुडियाँ जैसी दिखती हैं।

चक्र हमारे शरीर में मेरुदण्ड पर स्थित हैं। मेरुदण्ड से होती हुई तथा मेरुदण्ड के इर्द–गिर्द तीन नाडियाँ सांप की तरह चलती हैं। इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड के बायीं ओर स्थित है, यह स्त्री नाड़ी कहलाती है और कषाय और भावनाओं की प्रतिनिधि है। पिंगला नाडी मेरुदण्ड के दायीं ओर स्थित है, यह पुरुष नाड़ी कहलाती है और बुद्धि तथा विवेक का प्रतिनिधित्व करती है।ये चक्र मेरुदण्ड से लगे हुए हैं और इड़ा व पिंगला के कारण शरीर में अपनी स्थिति बनाए रखते हैं। चक्र ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त प्राण ऊर्जा को ग्रहण करते हैं और रक्त और स्नायुतंत्र के माध्यम से उसे अन्तःस्रावी ग्रंथियों और शरीर के अन्य अवयवों को प्रसारित करते हैं और इसी के कारण हम ऊर्जावान बने रहते हैं।चक्र हमारी अन्तःस्रावी ग्रंथियों से लगे हुए हैं। हर चक्र शरीर की उस भाग की अन्तःस्रावी ग्रंथियों और अवयव को प्रभावित करता है जहाँ वह स्थित है। कभी–कभी चक्र का प्रभाव व्यापक क्षेत्र में भी होता है।

चक्र मेरुदण्ड, ओटोनोमिक स्नायुतंत्र और अन्तःस्रावी ग्रंथी तंत्र को हमारे सूक्ष्म शरीर व आभामण्डल से जोडते हैं। हमारे शरीर में मुख्यतः दो विद्युत तंत्र हैं।

पहले विद्युत तंत्र का संबंध हमारे स्नायु तंत्र और मस्तिष्क से है जो मांसपेशियों, हारमोन और इन्द्रियों को शासित करता है। दूसरा विद्युत तंत्र हमारे शरीर के परमाणुओं द्वारा निरंतर उत्सर्जित विद्युत चुम्बकीय विकिरण के कारण है और इसी विद्युत तंत्र के द्वारा हमारे शरीर और वायुमण्डल के बीच ऊर्जा का आदान–प्रदान होता है। यह ऊर्जा क्षेत्र जिसे आभामण्डल कहते हैं हर व्यक्ति के शारीरिक,मानसिक और भावनात्मक स्थिति का परिचायक है। शरीर शास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि इस आभामण्डल में हमारे पूर्व, वर्तमान और भविष्य के स्वास्थ्य की सम्पूर्ण जानकारी सांकेतिक भाषा में संग्रहीत रहती है।

हमारे शरीर में और उसके आसपास सैकडों चक्र हैं परन्तु उनमें से मुख्य सात चक्र हैं। इन चक्रों के रंग अंर्तचक्षु के द्वारा देखे जा सकते हैं। अपनी आँखे बंद कर अंर्तचक्षु से इन रंगों को देखने का प्रयास करें। अपने शरीर की तुलना में दुसरें के चक्र देखना आसान रहता है। स्वास्थ्य के प्रभाव के अतिरिक्त चक्र हमारे जीवन के विभिन्न अन्य पहलुओं को भी प्रभावित करते हैं। ये हमारी चेतना के स्तर को दर्शाते हैं और सम्पूर्ण जीवन, दर्शन और आध्यात्मिक जागरुकता के प्रतीक हैं। सातों मुख्य चक्र आपस में संबंधित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हर चक्र एक विशिष्ट आवृति से घूमता है और इसी के अनुसार इसका रंग होता है। मूलाधार चक्र की आवृति सबसे कम होती है और सहस्रार चक्र की आवृति सबसे अधिक होती है। यद्यपि चक्र मेरूदण्ड से लगे होते हैं ये शरीर के आगे और पीछे भी बनें होते हैं। चक्र का आकार और इसकी चमक व्यक्ति के विकास, स्वास्थ्य, प्राण ऊर्जा, रोग और मनोदशा पर निर्भर करते हैं। चक्रों के बीच संतुलन होने से व्यक्ति स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। यदि चक्रों का आकार बहुत बडा हो जाता है तो वे आपस में जुड जाते हैं और ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का प्रचण्ड प्रवाह होने लगता है। यदि चक्रों का आकार बहुत छोटा होता है तो ऊर्जा का प्रवाह बहुत कम हो जाता है और व्यक्ति बीमार हो सकता है। कई बार हम दुःखद अनुभव होने पर प्रतिक्रिया कर बैठते हैं और हमारी भावनाओं को दबाते हुए शरीर में ऊर्जा का प्रवाह कम कर देते हैं। यह हमारे चक्रों को प्रभावित करता है और उनका आकार बिगड जाता है। जब चक्रों की स्थिति अच्छी होती है तो वे खिले रहतें हैं, घडी की दिशा में घूमते हैं और समुचित मात्रा में ब्रह्माण्डीय ऊर्जा को ग्रहण करते हैं।

उपरोक्त सात मुख्य चक्रों के अतिरिक्त अन्य अल्प शक्ति वाले चक्र हथेली में, सभी अंगुलियों के सिरों पर, पैर के तलवों और हाथों तथा पैरों के जोडों में स्थित होते हैं। ये छोटे चक्र स्पाइरल न होकर शरीर से बाहर निकलती हुई ऊर्जा कील के

रुप में होते हैं।रेकी ओर स्पर्श चिकित्सा में हथेलियों और अंगुलियों के चक्र काम आते हैं। सभी सूक्ष्म शरीर कोशों के चक्र होते हैं। चक्र सूक्ष्म शरीर और भौतिक शरीर को जोड़ते हैं और सूक्ष्म शरीर के पंच कोशों को भी जोडते हैं।

चक्र अपनी वर्तुल गति के कारण एक आवृति पैदा करते हैं और उसी आवृति की ब्रह्माण्ड से आने वाली विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा को ग्रहण करते हैं। ब्रह्माण्डीय ऊर्जा सहस्रार चक्र (या शिखा स्थल) से शरीर में प्रवेश करती है और सुष्मुना नाडी से होकर मुलाधार की तरफ प्रवाहित होती है। सुष्मुना नाडी पर स्थित विभिन्न चक्र अपनी–अपनी आवृति के अनुसार आने वाली ऊर्जा को ग्रहण करते हैं। इस ऊर्जा को चक्र अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वाली अंतःस्रावी ग्रंथि तथा शरीर के अन्य अंग–उपांग को पहुँचाते है। ऊर्जा का यह प्रवाह चेतन मन के संवेदन क्षेत्र के बाहर होने से हमें उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता है। हमारी इन्द्रियों का व्यापार चेतन मन का विषय है और हमें उसका ज्ञान रहता है।

बारबरा जे. मरसिनियक के अनुसार पाँच अतिरिक्त चक्र हमारे शरीर के बाहर सिर से उपर स्थित हैं। आठवाँ चक्र सिर से थोडा उपर स्थित है नौवें से बारहवाँ चक्र उसके उपर है। इनके स्थान निश्चित नहीं है। ये चक्र समय और दूरी परिसीमा से परे गुण वाले माने गये हैं अतः इनके स्थान का कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता है। इन चक्रों की आवृति सहस्रार चक्र की आवृति से उपर बढती जाती है। योगी जन जब आध्यात्मिक ऊँचाई को प्राप्त करते हैं तो चेतना की उच्चतर अवस्था से उनका संबंध उच्च आवृति वाली ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से होने लगता है। यह संपर्क इन्ही शरीर के बाहर वाले चक्रों के माध्यम से होता है। सबसे पहले सिर के ठीक उपर वाला आठवाँ चक्र जागृत होता है। उसके बाद क्रम से नोवाँ और अन्त में बारहवाँ चक्र जागृत होता है। सम्भवतया अन्तिम बारहवाँ चक्र जागृत होने पर समय और दूरी का भेद समाप्त हो जाता होगा और आत्मा को सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता होगा। क्या यह स्थिति केवल ज्ञान की होनी चाहिए?

चक्र एक कोन आकार में वर्तुल बनाता है। एक मत के अनुसार वास्तव में चक्र में दो स्पाइरल होती है, एक स्पाइरल घड़ी की दिशा में घूमती है और दूसरी स्पाइरल उसकी उल्टी दिशा में। जब चक्र किसी एक अंतःस्रावी ग्रंथि के साथ ही कार्य करता है, जैसे कि पिनीयल या पिट्युटरी ग्रंथि, तो दोनों ऊर्जा स्पाइरल की धुरी एक ही होती है और कोन का सिर ग्रंथि की तरफ होता है। परंतु जब चक्र दो अंतःस्रावी ग्रंथियों के साथ कार्य करता है, जैसे थाइमस और एड्रेनल ग्रंथि, तो दोनो ऊर्जा स्पाइरल की धुरी कुछ दूरी पर स्थित होती है और एक कोन का सिर एक ग्रंथि

की ओर होता है और दूसरे कोन का दूसरी ग्रंथि की तरफ।

प्रायः यह माना जाता हैं कि स्त्री प्रकृति वाले गुण शरीर के बांये भाग में होते है और पुरुष प्रकृति वाले गुण दांये भाग में होते हैं। अतः आभामण्डल के बांये और दांये भाग विरोधी प्रकृति वाले होने चाहिए। इस प्रकार बांये और दांये भाग में स्थित ऊर्जा स्पाइरल की गति भी एक दूसरे के विरोधी दिशा में होनी चाहिए।

कुछ चक्रों, जैसे अनाहत चक्र और मणिपुर चक्र, ऊर्जा स्पाइरल दो दिशा वाली होती है और ये शरीर से बाहर की तरफ निकलती हुई एक सामने और दूसरी पिछे की तरफ होती है। दूसरे चक्रों में ऊर्जा स्पाईरल एक ही दिशा वाली होती है और वह शरीर से एक तरफ ही बाहर की और जाती है। जैसे आज्ञा चक्र में स्पाइरल केवल सामने की तरफ ही शरीर से बाहर निकलती है।

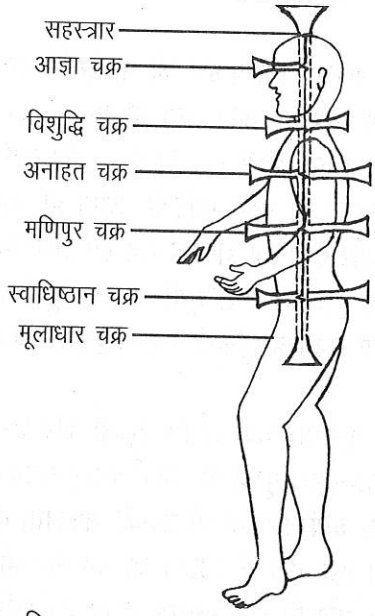

चित्र 6.1 : सात मुख्य चक्र

कुछ चक्र केवल ऊर्जा ग्रहण कर सकते हैं और कुछ चक्र ऊर्जा ग्रहण भी करते हैं और ऊर्जा का प्रसारण भी करते हैं। चक्र की ऊर्जा विद्युत रासायनिक होती है और आभामण्डल की ऊर्जा विद्युत चुम्बकीय होती है। चक्र हर समय जागृत रहते हैं और पंच भूतों से प्रभावित होते हैं। पंचभूतों से प्रभावित चक्र ऊर्जा श्वास के द्वारा शरीर में प्रवाहित होती है और ग्रंथि तंत्र के माध्यम से रासायनिक क्रिया में संलग्न होती है। ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले रसायन यानि हारमोन्स रक्त में मिल जाते हैं

और शरीर के विभिन्न अंग अवयवों तक पहुँच जाते हैं। मेरूदण्ड में स्थित पहले पाँच चक्र हमारी पाँच इन्द्रियों के आधार स्वरूप हैं। श्वास और चक्र तंत्र के माध्यम से यह इन्द्रिय ज्ञान सातों चक्रों को पहुँच जाता हैं।

प्राण ऊर्जा शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शरीरों तक ही सीमित नहीं रहती वरन् शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहती है। प्राण ऊर्जा हम श्वास के द्वारा ग्रहण करते हैं और नाड़ी तंत्र के माध्यम से यह समस्त शरीर में पहुँच जाती हैं। सुषुम्ना नाड़ी सातों चक्रों को आपस में जोड़ती है और शरीर में व्याप्त 72000 दूसरी नाड़ियाँ भी इससे जुड़ी रहती हैं। ये 72000 नाड़ियाँ दो श्रेणी में विभाजित की जा सकती है–

1) अदृश्य नाड़ियाँ जो मस्तिष्क और समस्त शरीर में फैली हुई हैं।

2) दृश्य नाड़ियाँ जैसे स्नायु, मांसपेशियाँ, रक्तवाहिनी नसें, ह्रदय तंत्र, धमनियाँ आदि।

चक्रों का संबंध दोनो प्रकार की नाड़ियोंसे बना रहता है। सुषुम्ना नाड़ी मेरूदण्ड के बीच में स्थित है और अन्य दो मुख्य नाड़ियाँ मस्तिष्क में स्थित हैं। सुषुम्ना नाड़ी प्रायः सुषुप्त अवस्था में रहती है और दूसरी दो मुख्य नाड़ियाँ कार्य करती हैं। जब मस्तिष्क की मुख्य नाड़ियाँ प्रसुप्त हो जाती हैं तो सुषुम्ना में प्रवाह होने लग जाता है और ऐसा तब होता है जब हम दोनो नथुनों से श्वास लेते हैं। हम प्रति घंटे में लगभग दस बार तथा सूर्योदय और सूर्यास्त के समय दोनो नथुनों से श्वास लेते हैं। अन्य समय हम किसी एक नथूने से श्वास लेते हैं।

मूलाधार चक्र

मूलाधार चक्र जीवन, सुरक्षा और संरक्षण की आवश्यकताओं से संबंध रखता हैं। यह हमारे पृथ्वी से संपर्क बनाए रखने में सहायता करता है। जब हम कोई सांसारिक कार्य करते हैं तो उसकी सफलता के लिए ऊर्जा मूलाधार चक्र से प्राप्त होती हैं। इस चक्र के मलिन या कमजोर हो जाने पर व्यक्ति भयभीत, चिन्तित, असुरक्षित और निराशा अनुभव करता है। शरीर का वजन बढ़ने, भूख न लगने और घुटनो के दर्द की शिकायत हो सकती है। जंघाए, पैर, कमर का नीचे का भाग तथा पुरूष जननांग का संबंध मूलाधार चक्र से है।

पुरूष जननांग का संबंध मूलाधार चक्र से होने से पुरूष की यौन शक्ति मुख्यतः शारीरिक प्रकृति की होती है। स्त्री जननांग का संबंध स्वाधिष्ठान चक्र से है इसलिए स्त्री की यौन शक्ति मुख्यतः भावनात्मक प्रवृति की होती है। मूलाधार चक्र का तत्व पृथ्वी है और संज्ञा गंध है।

स्वाधिष्ठान चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र नाभि से दो इंच नीचे मेरूदण्ड में स्थित है। इस चक्र का संबंध यौन शक्ति सृजनात्मकता, अंतः प्रेरणा, स्वाभिमान, मित्रता और भावनात्मक जैसे गुणों से है। इस चक्र का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि बचपन में व्यक्ति के भावों को किस प्रकार दबाया गया या उन्हें विकसित होने का अवसर प्रदान किया गया। स्वाधिष्ठान चक्र के संतुलित होने पर हम आसानी से दूसरे लोगों से भावनात्मक संबंध स्थापित कर सकते हैं। इस चक्र मे अवरोध होने पर व्यक्ति में भावनाओं का गुब्बार आ सकता है और वह अनुचित तरीके अपना सकता है। इसके अतिरिक्त गुर्दो की कमजोरी, कमर के नीचे के भाग में जकड़न होना, कब्ज और मांसपेशियों में तनाव आदि की शिकायत हो सकती है। शरीर में जननांग (स्त्री), गुर्दे, मुत्राशय और बड़ी आंत का संबंध इस चक्र से है। स्वाधिष्ठान चक्र का तत्व जल है और संज्ञा रस है।

मणिपुर चक्र

मणिपुर चक्र नाभिस्थान पर मेरूदण्ड में स्थित है। यह चक्र हमारे आत्म शक्ति, अहंकार, आवेग, क्रोध ओर शक्ति का केन्द्र है। मणिपुर चक्र अंतरिक्ष गमन, ब्रह्माण्डीय प्रभाव, मृत आत्माओं से संपर्क और इन्द्रियातीत विकास जैसी क्षमताओं का भी केंद्र है। जब इस चक्र का संतुलन बिगड़ जाता है तो व्यक्ति के आत्मविश्वास में कमी, स्पष्ट सोच में कमी, हमारे बारे में अन्य लोगों के दृष्टिकोण की चिंता, पराधीन होने की भावना और कुंठा जैसे विचार घर कर जाते हैं। शरीर में अपच, लीवर रोग, मधुमेह, थकान ओर भोजन से एलर्जी जैसी शिकायतें होने लगती हैं। चक्र के संतुलित होने की अवस्था में व्यक्ति प्रसन्नता, बर्हिमुखी, आत्म सम्मान, स्पष्टवादिता, चुनौतियों से आनन्द और विपुल आत्मशक्ति का अनुभव करता है। हमारे शरीर में आमाशय, लीवर, गल ब्लेडर, पेनक्रियाज और छोटी आंत का संबंध मणिपुर चक्र से है। मणिपुर चक्र का तत्व अग्नि है और संज्ञा रूप है।

अनाहत चक्र

अनाहत चक्र प्रेम, दया और अध्यात्म का केन्द्र है। अपने से और दूसरे से प्रेम करना तथा प्यार देना और प्यार ग्रहण करना, जैसी क्षमताओं का विकास इसी केन्द्र से होता है। अनाहत चक्र ही शरीर, मन और आत्मा का संबंध स्थापित करता है। आज प्रायः व्यक्ति ह्रदयाघात से पीड़ित है और ह्रदय रोग का बाहुल्य हो गया है। गहन ह्रदयाघात से आभामण्डल में भी निशान पड़ जाते हैं। जब अनाहत चक्र असंतुलित हो जाता है तब व्यक्ति अपने आपके लिए दुःखी, दूसरों मे अविश्वास, अनिर्णय की स्थिति, काम करने में भय, चोट लगने का भय और प्रेम के लायक नहीं

होने जैसे विचारों से ग्रसित हो जाता है। शारीरिक रोग जैसे हार्ट अटेक, उच्च रक्तचाप, नींद नहीं आना, और श्वास लेने में कठिनाई की सम्भावना बनी रहती है। अनाहत चक्र के संतुलित होने पर व्यक्ति में दया, मित्रता, दूसरों के मनोभावों को समझना, दूसरों का पोषण करना और हर व्यक्ति में अच्छाई देखने की वृति पैदा होती है। शरीर में ह्रदय, फैंफड़े, प्रवाह तंत्र, कंधे और पीठ का उपरी भाग इस चक्र से संबंधित है। अनाहत चक्र का तत्व वायु है और संज्ञा स्पर्श है।

विशुद्धि चक्र

विशुद्धि चक्र संवाद, ध्वनि, तथा विचारों, वक्तृता और लेखन की सृजनात्मकता जैसे गुणों का केन्द्र है। यह चक्र परिवर्तन, प्रत्यावर्तन और रोग मुक्ति की संभावना से भी संबंधित है। विशुद्धि चक्र के असंतुलित होने पर व्यक्ति में आगे बढ़ने का भय, क्षुद्रता की भावना, अशक्तता की भावना और अपने आपको व्यक्त करने में असमर्थता जैसे अवरोध पैदा हो जाते हैं। शारीरिक रोग जैसे हाइपर थायरायड़, चर्म रोग, कान के रोग, गले के रोग, सूजन और पीठ का दर्द आदि की सम्भावना बन जाती है। विशुद्धि चक्र के संतुलित होने पर व्यक्ति पूर्ण संतुलित, केन्द्रित, संगीत और कला से प्रेरित और अच्छे वक्ता के रूप में अनुभव करता है। शरीर में गला, गर्दन, दांत, कान और थायराइड ग्रंथि इस चक्र से संबंध रखते हैं। विशुद्धि चक्र का तत्व आकाश है और संज्ञा शब्द है।

आज्ञा चक्र

आज्ञा चक्र अतीन्द्रिय क्षमता, अतीन्द्रिय ज्ञान, दिव्य दर्शन और अलौकिक शक्ति का स्थान है। यह चक्र नकारात्मक वृतियों को ठीक करने और स्वार्थपरता को दूर करने में भी सहायता करता है। इस चक्र की शक्ति से व्यक्ति अपनी अन्तर्रात्मा का मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है और आत्म–साक्षात्कार की दिशा में बढ़ सकता है। आज्ञा चक्र के असंतुलन से व्यक्ति असमर्थ, सफलता में संदिग्ध और उल्टी दिशा में जाने वाला और अहंकारी हो जाता है। शारीरिक रोगों में सिरदर्द, दृष्टि दोष, अंधापन और नेत्र रोग की सम्भावना रहती है। आज्ञा चक्र के संतुलन से व्यक्ति स्वयं को अपना स्वामी, मृत्यु भय से मुक्त, सांसारिक आसक्ति से रहित अनुभव करता है और उसमें दूर श्रवण, अंतरिक्ष गमन और जाति स्मरण की क्षमताएँ विकसित होने लगती हैं। आँखे, चेहरा, मस्तिष्क, लिम्फेटिक और अंतःस्रावी ग्रंथियो से इस चक्र का संबंध है।

सहस्त्रार चक्र

सहस्त्रार चक्र, अध्यात्म, आत्मज्ञान, दिव्य दर्शन और शक्ति का केन्द्र है।

यहाँ से अन्तर्विवेक का प्रवाह होता है और ब्रह्माण्डीय चेतना से सम्पर्क होता है। इसी के माध्यम से परम सता से साक्षात्कार होता है और जीव सत्ता उसी में विलीन हो जाती है। सुषुम्ना नाड़ी जो पंचकोशों को जोड़ती है सहस्रार चक्र से प्रारम्भ होकर मूलाधार चक्र तक जाती है। भव्य जीवों में जन्म के समय आत्मा यहीं से शरीर में प्रवेश करती है ओर इसी मार्ग से मृत्यु के समय शरीर का त्याग करती है। सहस्रार चक्र के असंतुलन से व्यक्ति निरन्तर निराशावादी और कुंठाग्रस्त रहता है, उसके जीवन में प्रसन्नता नहीं होती ओर हमेशा विध्वंशनात्मक भावना बनी रहती है। शरीर में माइग्रेन, सिर दर्द और अवसाद की शिकायत रहती है। चक्र के संतुलित होने से व्यक्ति दिव्यता की और अग्रसर होता है और अवचेतन मन से संपर्क बनाने में सफल होता है।

सहस्रार चक्र ऊर्जा कोन के रूप में सिर से बाहर निकलता है, कोन का सिरा पिनीयल ग्रंथि की तरफ रहता है। यह चक्र पिनीयल ग्रंथि के साथ मिलकर कार्य करता है और केवल ऊर्जा ग्रहण कर सकता है, संचारित नहीं कर सकता।

ऊपर बताया गया है कि हमारे सिर के उपर भी चक्र होते हैं। ये चक्र प्रकाश रेखाओं से बने ज्यामितिक संरचना के रूप में होते हैं और इसी संरचना में स्मृति सांकेतिक रूप से संग्रहीत होती है। ये बाहरी चक्र प्रकाश रश्मियों के द्वारा सहस्रार चक्र के माध्यम से मस्तिष्क से सम्पर्क बनाते हैं। प्रकाश रश्मियाँ पिनीयल ग्रंथि में जाकर स्नायु संकेतों में परिणीत हो जाती है जो फिर मस्तिष्क के सेरेबेलम भाग में जाती है। इस प्रकार सहस्रार चक्र एक दिव्य आंख का कार्य करता है।

6.3 चक्र ऊर्जा का अवरोध और निदान

वह चक्र जिसमें वांछित ऊर्जा का प्रवाह नहीं होता है असंतुलित कहलाता है। जब व्यक्ति पिछले कृत्यों के कारण डर, क्रोध या अपराध भावना से ग्रस्त होता है या जब व्यक्ति को बचपन में समुचित पोषण, प्यार या प्रोत्साहन नहीं मिला तो चक्रों में ऊर्जा का प्रवाह कम हो जाता है। जब आपकी भावना पवित्र और शुद्ध होती है तो चक्रों से ऊर्जा का प्रवाह अच्छा होता है। जन्म के समय सभी चक्र संतुलित होते हैं। तीन वर्ष की अवस्था तक अधिकतर बच्चों के सहस्रार चक्र, आज्ञा चक्र और विशुद्धि चक्र अवरोधित हो जाते हैं। किशोरावस्था तक अनाहत चक्र और मणिपुर चक्र, भी असंतुलित हो जाते हैं।

चक्रों के संतुलन के लिए यह आवश्यक है कि हमारी भावनाएँ पवित्र और शुद्ध रहे। प्रेम, क्षमा, प्रार्थना आदि गुण चक्रों को ऊर्जावान बनाए रखतें हैं। योगाभ्यास

और ध्यान चक्रों को संतुलित रखने का उत्तम तरीका है। पश्चिमी देशों में चक्रों को संतुलित करने हेतु कई भौतिक विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। इनमें से कुछ मुख्य प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं।

क्रिस्टल और रत्न चिकित्सा

चक्रों को संतुलित करने में क्वार्ट्ज क्रिस्टल ओर रत्नों का प्रयोग लाभकारी पाया गया है। क्रिस्टल और रत्नो का प्रभाव पियाजोइलेक्ट्रिक इफेक्ट नामक वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर होता है।हमारे शरीर में प्रवाहित होने वाली विद्युत ऊर्जा क्रिस्टल और रत्नों से प्रभावित होती है।इन क्रिस्टल और रत्न में एक निश्चित आवृति का कम्पन होता रहता है। ये कम्पन हमारे शरीर की ऊर्जा को संतुलित करने में सहायता करते हैं। जिन क्रिस्टल और रत्नो का प्रयोग किया जाता है उन्हे पहले विशेष विधि से साफ किया जाता है। रोगी को एक शय्या पर सुलाकर साफ क्रिस्टल और रत्न उसके शरीर पर चक्रों के स्थान पर चक्रों के रंग के अनुसार रखे जाते हैं। रेकी चिकित्सा में यें क्रिस्टल और रत्न चिकित्सक अपनी मुठठी में रखता है। चिकित्सक फिर रोगी के शरीर पर सिर से पैर तक अपने हाथ रखता है। इस प्रक्रिया में ऊर्जा किसी एक दिशा में, पृथ्वी से आकाश की तरफ या आकाश से पृथ्वी की तरफ प्रवाहित होती है। यदि ऊर्जा का प्रवाह पृथ्वी से आकाश की तरफ होता है तो क्रिस्टल और रत्नों के नुकीले सिरे सिर की दिशा में रखे जाते हैं। इस प्रक्रिया में रोगी की ऊर्जा भौतिक जगत से आध्यात्मिक जगत की ओर गति करती है। यदि ऊर्जा का प्रवाह आकाश से पृथ्वी की तरफ होता है तो क्रिस्टल और रत्नों के नुकीले सिरे पैरों की तरफ रखे जाते हैं। जब चिकित्सक का हाथ किसी एक चक्र पर होता है तो वह उस चक्र के रंग का ध्यान करता है। चिकित्सा के पूरे समय में रोगी को कई प्रकार के अनुभव हो सकते हैं जैसे भावनाओं का उभरना, पिछले घात की पुर्नस्मृति होना, पूर्व जन्म की स्मृति होना, मानसिक और भावनात्क अवस्था में परिवर्तन अनुभव करना, आदि। ये अनुभव चक्र में अवरोध समाप्त होने के लक्षण हैं। विभिन्न चक्रों के लिए उपयुक्त क्रिस्टल, रत्न और रंग नीचे सारणी में दिए गए हैं।

रंग और ध्वनि चिकित्सा

रंग ओर ध्वनि चिकित्सा का उद्देश्य चक्रों की ऊर्जा कम्पन्नों को संतुलित करना है। जब चक्र संतुलित होते हैं तो हम शरीर के स्वास्थ्य और रख–रखाव के लिए आवश्यक ऊर्जा वातावरण और ब्रह्माण्ड से ग्रहण करते हैं। जब कोई चक्र असंतुलित हो जाता है तो उस चक्र से संबंधित अंग अवयवों को आवश्यक ऊर्जा नहीं मिल पाती है। चक्र संतुलन के लिए रंग ओर ध्वनि चिकित्सा पद्धति बहुत महत्वपूर्ण

सारणी – क्रिस्टल और रत्न चिकित्सा

चक्र	क्रिस्टल	रंग	कार्य
मूलाधार चक्र	गारनेट, कोरल मूंगा, माणक	लाल	घाव भरने में, यौन इच्छाओं को संयमित करने में, अवसाद? मोटापा, आलस्य, उदासीनता, भय आदि दूर करता है। रक्त की कमी, रीढ़ की हड्डी, पाँव और गुर्दो के विकार दूर करता है। चेतना को जागृत करता है।
स्वाधिष्ठान चक्र	कारनेलियन, फायर ओपल, ओरेन्ज जेस्पर	नारंगी	काम-क्रोध पर काबू, ऊर्जा एवं शक्ति प्रदान करता है, रक्त विकार दूर करता है, सृजनता बढाता है, अस्थिरता, शक, ईर्ष्या, अर्न्तमुखी को ठीक करता है। स्त्री रोग, मूत्र विकार, यौन विकार को ठीक करता है। आत्मबल, आनंद, खुशी प्रदान करता है।
मणिपुर चक्र	सिटेरिन, अम्बर	पीला	शक्ति एवं बुद्धि में वृद्धि, मधुमेह, कब्ज आदि में लाभदायक, निर्णय लेने में सटीकता, अभिव्यक्ति में सशक्तता, संप्रेषण संचार व नियंत्रण में पारदर्शिता।
अनादत चक्र	रोज स्फटिक, पन्ना, जेड-स्टोन, तुरमुली (एवेंट्युरिन)	हरा और गुलाबी	कोमलता, प्रेम, करुणा उत्पन्न करता है। दूसरों के साथ सामंजस्य, रक्तचाप नियंत्रण, हृदय रोग में सहायक, विश्राम एवं ऊर्जा, चयापचय की क्रिया को नियमित करता है एवं भावनात्मक आघातों को दूर करता है। विष को बाहर निकालता है। चिड़चिड़ापन, ईर्ष्या, क्रोध, अर्न्तज्वाला को शान्त करता है।
विशुद्धि चक्र	फिरोजा, एक्वामेरिन	हल्का नीला	थायरॉइड ग्रंथि को संतुलित करता है, बलगम को ढीला करता है। नैत्र ज्योति बढ़ाता है। वाणी में मिठास लाता है। संयमित भयमुक्त करता है। स्नायुतंत्र को आराम, ज्ञान की भूख बढ़ाता है। उल्लास पैदा करना, गले की बीमारियाँ, आन्तरिक चोट, अवसाद दूर करना।
आज्ञा चक्र	एमेथिस्ट, लैपिस, सफायर	नीला या गहरा नीला	अनिद्रा, मानसिक तनाव, मनोविकार, चोट दूर करने में सहायक, क्रोध, उत्तेजना, हिंसा, लालसा में कमी, आत्म शुद्धि, आत्मोत्थान,
			सहनशक्ति, दृढ़ता, परमशक्ति से सम्पर्क। चेतना के नये आयाम, दृष्टिकोण को बदलता है।
सहस्त्रार चक्र	स्फटिक और एमेथिस्ट	बैगनी या सफेद	भावनात्मक आवेगों को कम करता है, वैचारिक उन्नति, अन्तरचेतना की जागृति, अनिद्रा और मनोविकारों को दूर करने में सहायक होता है।

और उपयोगी सिद्ध हुई है। एक घंटे के चिकित्सा सत्र में व्यक्ति ऊर्जावान महसुस करने लगता है और अपने आपको स्वस्थ पाता है।

चिकित्सा सत्र में रोगी को शंरीर के स्थान विशेष पर एक चयनित रंग का ध्यान करने को कहा जाता है। इसके साथ–साथ रोगी को विशेष इत्र और खूशबू का सेवन कराया जाता है जो रोगी को रंग के ध्यान में सहायता करता है। ध्वनि चिकित्सा में हर चक्र के लिए निम्न माध्यम प्रयोग में लाए जाते है। (1) टूयूनिंग फोर्क (2) पार्श्व संगीत के रुप में मंत्र का गायन (3) चिकित्सक द्वारा रोगी के चक्र विशेष के स्थान पर विशिष्ट स्वर का उच्चारण और घंटियों और जल तरंग की ध्वनि। इन सबका सम्मिलित प्रभाव रोगी को स्वास्थ्यकारी अनुभव प्रदान करता है।

यहाँ उन सिद्धान्तों का जिसके उपर रंग और ध्वनि चिकित्सा पद्धति आधारित है का उल्लेख आवश्यक है। हमारे शरीर का हर चक्र एक विशेष आवृति से वर्तुलाकार गति करता है जैसा कि सारणी में दिखाया गया है। हमारे भौतिक शरीर के चक्रों का आक्टेव शून्य है।ओक्टेव के क्रम में बढने पर आवृति गुणाकार रुप में बढती है। शून्य ओक्टेव और सी. नोट पर आवृति 250 हर्ट्ज है। ओक्टेव एक हो जाने पर आवृति 512 हो जाती है,दो हो जाने पर 1024,तीन होने पर 2048 आदि। ऊँचे ओक्टेव होने पर हमारा सम्बन्ध उच्चतर ऊर्जा से हो जाता है, जैसे कि ओक्टेव एक होने पर हमारा सम्बन्ध आसपास के वातावरण से हो जाता है, ओक्टेव दो होने पर सारी पृथ्वी से, ओक्टेव तीन होने पर सूर्य से, ओक्टेव चार होने पर

सारणी :– चक्र, रंग और ध्वनि

ओक्टेव	नोट	आवृति, हर्ट्ज	रंग	टोन	चक्र
5	C	8192	–	–	ब्रह्माण्ड
4	C	4096	–	–	आकाशगंगा
3	C	2048	–	–	सूर्य
2	C	1024	–	–	पृथ्वी
1	C	512	सफेद	ओम्	वातावरण, विश्व, उर्ध्व दिशा
0	B	439	बैंगनी	ई	सहस्त्रार चक्र
0	A	426-7	गहरा नीला	ए	आज्ञा चक्र
0	G	384	नीला	ऐ	विशुद्धि चक्र
0	F	341.3	हरा	आ	अनाहत चक्र
0	E	320.0	पीला	ओ	मणिपुर चक्र
0	D	288.0	नारंगी	ऊ	स्वाधिष्ठानचक्र
0	C	256.0	लाल	उ	मूलाधार चक्र

आकाशगंगा से और ओक्टेव पाँच होने पर समस्त ब्रह्ममाण्ड से संपर्क हो जाता है। किसी भी चिकित्सा सत्र में सामान्यतया भौतिक शरीर के शून्य ओक्टेव पर ही ध्यान दिया जाता है। हर चक्र पर उसी की आवृति की तरंगों का सम्पर्क कराया जाता है जिससे कि यदि उस चक्र की आवृति अपनी सामान्य आवृति से भिन्न हो गई हो तो वह पुनः सामान्य अवस्था में आ जाती है और व्यक्ति को उस आवृति के अनुसार ऊर्जा मिलने लग जाती है और फलस्वरुप वह स्वस्थ अनुभव करने लग जाता है।

सारणी में हर चक्र का रंग भी दिखाया गया है। चिकित्सा सत्र में हर चक्र पर उसी रंग का प्रकाश फेंका जाता है। इस चक्र की आवृति वाले ट्यूनिंग फोर्क भी चक्र के स्थान के निकट रखा जाता है। इस प्रक्रिया से चक्र की आवृति अपने सामान्य स्तर पर आ जाती है। यह सब रजोनेन्स के सिद्धान्त से सम्भव होता है। इस सिद्धान्त का एक और पक्ष है। इसके अनुसार वे चक्र या अवयव जो उस आवृति के दूसरे ओक्टेव पर कार्य करते हैं वे भी कम्पन करने लगते हैं। अतः जब शरीर के चक्र के साथ कार्य किया जाता है तब उस आवृति के संबंधित ऊंची ऊर्जा वाले चक्र भी गतिशील हो जाते हैं जैसे मूलाधार चक्र की 256 आवृति वाले उपकरण से 512,1024 आदि आवृति वाले चक्र भी लाभान्वित होते हैं। इस प्रकार रोगी को अच्छी स्वस्थता का तथा ताजगी और शांति का अनुभव होता है।

चिकित्सा सत्र में ध्वनि की रीदम, मेलोडी, पिच आदि अन्य गुणों का भी सावधानी से चयन किया जाता है जिससे रोगी को अधिक से अधिक लाभ मिले। इसके साथ–साथ चिकित्सक स्वयं हर चक्र में उस अक्षर की जैसा कि सारणी में दिखाया गया हैं लयपूर्वक ध्वनि करता रहता है।

6.4 अन्तःस्रावी ग्रंथियां

मनुष्य शरीर मे दो प्रकार की ग्रंथियां होती हैं, एक वे जिनका संबंध नलिकाओं द्वारा शरीर से होता है और दूसरी वे जो नलिका विहीन होती हैं। ये नलिकाविहीन ग्रंथियाँ (डक्टलेस ग्लैंड्स) मस्तिष्क की गतिविधि के अनुसार स्राव निकालती हैं और मनुष्य शरीर पर प्रभाव डालती हैं। यही सर्वाधिक महत्व की हैं। इस स्राव को "हारमोन्स" कहते हैं। अभी वैज्ञानिक इनके बारे में पूर्णतया नहीं जान पाये हैं। जब जानेंगें तब पूर्व जन्मों के संस्कार, पुनर्जन्म आदि के कितने ही आश्चर्यजनक तथ्य सामने आयेगें – ऐसा अनुमान है। अंतःस्रावी हारमोन्स इन ग्रंथियों से स्रावित होकर शारीरिक उतार–चढ़ाव, घटना–बढ़ना, बुढ़ापा–मृत्यु आदि का कारण बनते हैं।

हम नहीं जानते पर अब विज्ञान यह बताने लगा है कि मनुष्य की अच्छी बुरी भावनाओं के द्वारा ही अच्छे या बुरे हारमोन्स शरीर में स्रावित होकर रासायनिक संतुलन या विकृति उत्पन्न करते हैं। हारमोन न केवल अंग – प्रत्यंगो की समर्थता–असमर्थता के आधार हेतु हैं, वरन् व्यक्तित्व के निर्माण में भी उनका गहरा हाथ है।

एनाटॉमी मेडिकल कोलेज कर्नेल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. चार्ल्स आर. स्टार्कयार्ड ने इन ग्रंथियों के आधार पर मनुष्य जीवन की एक नई धारणा प्रस्तुत की है, जो भारतीय आध्यात्मिक शोधों से शत–प्रतिशत मेल रखती है। डॉ. स्टार्कयार्ड लिखते हैं कि आंतरिक स्राव वाली ग्रंथियाँ एक महान शासक के रूप में गर्भ धारण से लेकर मृत्यु तक स्त्रियों, पुरूषों तथा समस्त रीढ़ की हड्डी वाले जीवों तक का नियंत्रण करती हैं। "फिजियोलॉजी" की मान्यताएँ भी अब "अंतराकाश" के अस्तित्व और उसके प्रचंड प्रभाव को स्वीकार करने लगी हैं। "ग्लैंड्स ऑफ डेस्टिनी" के लेखक डॉ. ईबो गैकी काब ने तो यहाँ तक मान लिया है कि अन्तःस्रावी ग्रंथियों (इंडोक्राइन ग्लैंड्स) पर नियंत्रण रखने वाले लोगों ने ही इतिहास पर अधिकार रखा है और जमाने को कहाँ से कहाँ बदल दिया है। नैपोलियन बोनापार्ट का उदाहरण देते हुए उन्होनें लिखा है कि यदि वाटरलू के युद्ध के समय नैपोलियन बोनापार्ट की "पिट्यूटरी ग्लैंड" (पीयुष ग्रंथि) में खराबी नहीं आ जाती तो वह हारता नहीं। जो नैपोलियन अत्यंत दूरदर्शी निर्णय भी तुरंत ले लेने की क्षमता रखता था, उसकी विवेक बुद्धि बुरी तरह लड़खड़ा गई। जिस समय वह एल्बा में निर्वासित था, उस समय लेगर्ड ग्रंथि लड़खड़ा गई। यह सारी बातें तब प्रकाश में आई जब सेंट हेलेना में उसके शव की अंत्य परीक्षा (पोस्ट मार्टम) की गई। जब तक उसने इन ग्रंथियों पर नियंत्रण रखा, जब तक उसकी अंतःस्रावी ग्रंथियां सशक्त रहीं, नैपोलियन सारी दुनिया को जीतता रहा, पर जैसे ही वह इन शक्तियों से वंचित हुआ वह नष्ट ही हो गया।

शरीर की आकृति कैसी ही हो, उसकी प्रकृति के निर्माण में हारमोन रसों का भारी हस्तक्षेप रहता है। कई बार तो वे मनःस्थिति, स्वभाव, रूचि को भी आश्चर्यजनक रीति से प्रभावित करते हैं। स्वसंचालित नाड़ी संस्थान की गतिशीलता तक में इनकी स्थिति के कारण भारी हेर–फेर उत्पन्न होते हैं। इन हारमोन रसों को जीवन रस कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

हर अन्तःस्रावी ग्रंथि के दो काम हैं। पहला, वे चक्रो के माध्यम से आने वाली संवेदात्मक ऊर्जा को ग्रहण करती हैं और इस संवेदना संकेत को मस्तिष्क को

भेजती हैं। दूसरा, वे हारमोन का उत्पादन करती हैं जो रक्त में मिलकर शरीर के विभिन्न अंग– उपांग को पहुँचता हैं और इसके द्वारा वे हमारे शरीर के विभिन्न क्रिया कलापों को नियंत्रित करती हैं। ये दोनो कार्य स्वतंत्र न होकर आपस में सम्बद्ध हैं। इन दो कार्यो का विभाजन कुछ ग्रंथियाँ में स्पष्ट है और कुछ में स्पष्ट नहीं है।

मुख्य अंतःस्रावी ग्रंथियाँ हैं – पिनीयल, हाइपोथेलेमस, पिट्यूटरी, साइनस (कुछ शरीर शास्त्री इसको ग्रंथि नहीं मानते हैं) थायरॉइड, थाईमस सरवीकल विस्तार, थाईमस, एड्रेनल और गोनड्स। इसके अतिरिक्त आमाशय, आंते और ह्रदय भी हारमोन का उत्पादन करते हैं, परन्तु इनका मुख्य काम हारमोन का उत्पादन नहीं हैं। हाल की खोजों से पता चला है कि पिनीयल ग्रंथि मास्टर ग्रंथि है और इसी के द्वारा अन्य ग्रंथियों को आदेश भेजे जाते हैं। इन आदेशों के संचारण में कोई निश्चित क्रम नहीं है। कभी पिनीयल हाइपोथेलेमस को संदेश देती है और हाइपोथेलेमस पिट्यूटरी को संदेश देती है और कभी पिनीयल सीधे पिट्यूटरी को संदेश देती है।

अंतःस्रावी ग्रंथियाँ और चक्र व्यवस्था

पिनीयल ग्रंथि और सहस्रार चक्र :– पिनीयल ग्रंथि के बारे में अभी बहुत कम जानकारी हो पाई है। यह लगभग सिर के मध्य में मस्तिष्क स्टेम और सेरेबेलम के बीच स्थित है। आकार में यह ग्रंथि आधे इंच से भी कम है। इसके दो भाग हैं, एक भाग हारमोन रिसाव प्रक्रिया से संबंधित है और दूसरे भाग का संबंध स्नायुतंत्र से है। इस दूसरे भाग में कई फोटो ग्राहक कोशिकाएँ होती हैं जैसी हमारी आँख की रेटिना में पाई जाती हैं। ये कोशिकाएँ सेरेबेलम से जुड़ी हुई हैं।

सहस्रार चक्र के माध्यम से आने वाले प्रकाश संकेत पिनीयल ग्रंथि के फोटोग्राहक कोशिकाओं पर जाकर स्नायु संकेतो में परिणत हो जाते हैं। ये संकेत फिर सेरेबेलम को पहुँचते हैं और मस्तिष्क आगे का कार्य करता है। जिस प्रकार पिनीयल ग्रंथियों में मास्टर ग्रंथि है, उसी प्रकार सहस्रार चक्र चक्रों में मास्टर चक्र है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान का स्थान है।

टेलीपेथी और दूरदर्शन की क्षमता पिनीयल ग्रंथि से सम्भव है। प्रयोगों से पाया गया है कि कंपनशील चुम्बकीय क्षेत्र के उपयोग से टेलीपेथी सम्भव हो जाती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीनकाल में पिनीयल ग्रंथि टेबल टेनिस के आकार जितनी बड़ी थी। कालान्तर में इसका उपयोग भूल गये सो अब इसका आकार घटकर मटर के दाने जितना रह गया है। इस अवस्था में भी वे सभी संकेत और सूचनाएँ संग्रहीत हैं जो विश्व संरचना की सच्चाई से जुड़ी हैं। प्राचीन–काल में प्राण

का प्रवाह पिनीयल ग्रंथि से होकर जाता था तब दूरदर्शन बहुत आसान था और हम सच्चाई को जान सकते थे। कालान्तर में प्राण प्रवाह उस ग्रंथि से दूर हो गया और हमारा देखना केवल आँखों के माध्यम से ही रह गया। अब हम सच्चाई को भिन्न दृष्टि से देखते हैं, हममें द्वेत भाव आ गया।

जैसा कि पहले बताया गया है पिनीयल मास्टर ग्रंथि है, इसका अधिकतर काम दूसरी ग्रंथियों के माध्यम से होता है। पिनीयल ग्रंथि से मेलाटोनीन और सेरोटोनीन नाम के दो हारमोन जैसे द्रव्य निकलतें हैं। ऐसा माना गया है कि मेलाटोनीन नींद का नियंत्रण करती है और उसका शरीर के सिरकाडियन चक्र में भूमिका है।

हाइपोथेलेमस ग्रंथि और दर्शन केन्द्र : – हाइपोथेलेमस द्वि–ग्रंथि के रूप में सेरेब्रल अर्धगोलों के नीचे की तरफ स्थित है। यह ग्रंथि सेरेब्रोस्पाइनल द्रव्य से सीधे–सम्पर्क मे रहती है। इस ग्रंथि का संबंध दर्शन चक्र से है जो आज्ञा चक्र से लगभग एक इंच ऊपर ललाट में स्थित है। दर्शन चक्र हाइपोथेलेमस के साथ मिलकर मानसिक टेलीपेथी की क्षमता प्रदान करता है। हाइपोथेलेमस में भी पिनीयल ग्रंथि की तरह फोटोग्राहक कोशिकाएँ होती हैं। विचार रश्मि – चित्र के रूप में दर्शन चक्र द्वारा ग्रहण किए जाते हैं और हाइपोथेलेमस की फोटोग्राहक कोशिकाओं को भेजे जाते हैं। वहाँ से स्नायु संकेत संबंधित सेरेब्रल अर्धगोले के कॉरटेक्स क्षेत्र में जाते हैं और मस्तिष्क अपना कार्य करता है। दर्शन चक्र संकेत ग्रहण भी कर सकता है और भेज भी सकता है। इस प्रकार इसके द्वारा विचार ग्रहण भी किए जा सकते हैं और भेजे भी जा सकते हैं।

मस्तिष्क तरंगे चार प्रकार की हैं– बीटा, एल्फा, थीटा और डेल्टा। बीटा तरंग की आवृति सबसे अधिक है और क्रम से घटते हुए डेल्टा तंरग की आवृति सबसे कम है। इन मस्तिष्क तरंगो का सम्बन्ध हाइपोथेलेमस से है। इस प्रकार हाइपोथेलेमस का संबंध हमारी चेतना के विकास से भी है। अब यह माना जाता है कि पिनीयल और हाइपोथेलेमस मिल कर चेतना विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

पिट्यूटरी (पीयुष ग्रंथि) ग्रंथि ओर आज्ञा चक्र :– पिट्यूटरी ग्रंथि ब्रेन स्टेम के पॉन्स के सामने स्थित है और लगभग आधा इंच व्यास की है। पिनीयल की तरह इस ग्रंथि के भी दो भाग होते हैं, पहला हारमोन संबंधित और दूसरा स्नायु संबंधित। स्नायु भाग हाइपोथेलेमस से जुड़ा होता है।

आज्ञा चक्र एक कोन के रूप में सामने की तरफ निकला रहता है और कोन का सिरा पिट्यूटरी ग्रंथि के स्नायु भाग की तरफ होता है। आज्ञा चक्र और पिट्यूटरी

ग्रंथि मिल कर "तीसरी आंख" बनाते हैं। इससे दूरदर्शन की क्षमता विकसित होती है।

पिट्यूटरी ग्रंथि में कई प्रकार के हारमोन बनते हैं, इनमें से अधिकतर दूसरी ग्रंथियों के कार्य को प्रभावित करते हैं–

क) ग्रोथ हारमोन जो एक प्रोटीन है, हड्डियों, मांसपेशियों और दूसरे अंग अवयवो के विकास को नियंत्रित करता है।

ख) थायरोट्रोपिन हारमोन थायरॉइड ग्रंथि को, एड्रिनो कोर्टिकोट्रोपिक हारमोन एड्रिनल ग्रंथि को, गोलाडोट्रोपिक हारमोन गोनाड़ ग्रंथि को प्रभावित करते हैं। प्रोलेक्टिन हारमोन प्रजनन के पश्चात् मां के स्तन में दूध उत्पादन में सहायता करता है। एन्टीडाइयूरोटिक हारमोन गुर्दे के कार्य को तथा ओक्सीटोसिन हारमोन स्त्रियों के जननांग और स्तन के कार्यो मे सहायता करता है।

साइनस ग्रंथि और नाक चक्र :– साइनस ग्रंथि नाक और आंखो के पास स्थित है। इनके चार भाग हैं। यह ग्रंथि एक केविटी के रूप में है। हाल के अध्ययन से यह पाया गया है कि विद्युत आवेश वाले कण हमारे मूड को प्रभावित करते हैं। ऋण आवेश वाले कण उल्लास पैदा करते हैं और घन आवेश वाले कण अवसाद पैदा करते हैं। साइनस ग्रंथि कणों के आवेश को पहचानती है और उसके अनुसार हारमोन का रिसाव होता है जिससे हमारे मूड में परिवर्तन होता है। नाक चक्र की गिनती मुख्य चक्रों में नहीं होती है। यह चक्र केवल ऊर्जा ग्रहण कर सकता है।

थायरॉइड ग्रंथि और विशुद्धि चक्र :– थायरॉइड ग्रंथि का स्थान कंठ में है। यह "एच" आकार की है और वायुनली के सामने की दिशा में लिपटी हुई है। यह ग्रंथि विशुद्धि चक्र के साथ मिलकर कार्य करती है। विशुद्धि चक्र ऊर्जा ग्रहण भी करता है और ऊर्जा का संचारण भी करता है। यह कोन रूप में कंठ के सामने और पीछे दोनों तरफ निकला रहता है। दोनो कोन का सिरा थायरॉइड ग्रंथि की तरफ होता है। विशुद्धि चक्र और थायरॉइड ग्रंथि मिलकर दूर श्रवण की क्षमता पैदा कर सकते हैं।

थायरॉइड ग्रंथि थाइरोक्सीन तथा ट्राईआयोडोथायरोनीन नाम के हारमोन का उत्पादन करती है जिसमें थायरोक्सीन ही अधिक मात्रा में होता है। दोनों हारमोन के बनने में आयोडीन की आवश्यकता होती है। थायरॉइड ग्रंथि के साथ–साथ पेराथायरॉइड़ ग्रंथि भी होती है जो पेराथोरमोन नाम का हारमोन बनाती है। यह हारमोन हमारे रक्त में केल्सियम की मात्रा नियंत्रित करता है।

थाइमस सरविकल एक्सटेन्शन ग्रंथि और आनन्द केन्द्र :– थाइमस ग्रंथि में दो लोब होते हैं जो ह्रदय को छूते हुए उसके ठीक उपर स्थित हैं। इस थाइमस

ग्रंथि के दोनों लोब के ऊपर की तरफ सरविकल एक्सटेन्शन होते हैं जिन्हें पृथक् ग्रंथि के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके सम्बन्धित चक्र को आनन्द केन्द्र कहा गया है। यह केन्द्र भी द्वि–दिशा वाला है, इसका एक ऊर्जा कोन सामने की तरफ और दूसरा ऊर्जा कोन पीछे की तरफ शरीर से बाहर निकले रहते हैं। इस ग्रंथि के हारमोन कार्य के बारे में अभी तक पता नहीं है परन्तु यह ग्रंथि स्नायु कार्य अवश्य करती है। इसका संबंध भावना से है। इस केन्द्र का विशेष महत्व नीचे दी गई खोज से पता चलता है।

जीन वैज्ञानिक डेराल्ड लैंथम ने माइक्रोस्कोप से इस बात का अध्ययन किया कि जीवन का प्रारम्भ कैसे होता है। उसने पाया कि शुक्राणु ओवम में प्रवेश करता है और एक कोशिका का निर्माण करता है। इस कोशिका को उसने "जाइगोट" कहा। कुछ समय बाद यह कोशिका विभाजित होकर दो कोशिका बनाती है। इसी प्रकार समय के साथ 2 से 4 और 4 से 8 कोशिका बन जाती हैं। ये आठ कोशिकाएँ आगे के शरीर निर्माण में एक इकाई की तरह काम करती है। आगे का निर्माण जीन के गुण के ऊपर निर्भर करता है। सभी जीवों में पहले आठ कोशिका बनती है। बाद में जिस प्रकार के जीन होते हैं उसी प्रकार का शरीर बन जाता है। मानव के जीन उपलब्ध होने पर मनुष्य का शरीर और पशु के जीन उपलब्ध होने पर पशु का शरीर बनता है।डेराल्ड ने पाया कि मनुष्य शरीर मे "जाइगोट" आनन्द केन्द्र के निकट स्थित होता है, यहीं से प्रारम्भ होकर पूरे शरीर का निर्माण होता है।

जैन दर्शन में बताया गया है कि आत्मा के आठ प्रदेश ऐसे हैं जिन पर कर्मो का आवरण नहीं होता। वैज्ञानिक अनुसंधान भी यह बताते हैं शरीर निर्माण में पहली 8 कोशिकाएँ एक इकाई की तरह कार्य करती हैं।

<u>थाइमस ग्रंथि और अनाहत चक्र</u> :– थाइमस ग्रंथि पर शरीर शास्त्रियों का ध्यान पिछले दो दशक में ही गया हैं। इस ग्रंथि का संबंध हमारे शरीर के रोग प्रतिरोधक तंत्र से है। जिस प्रकार आज्ञाचक्र का रूप से और विशुद्धिचक्र का शब्द से संबंध है, अनाहत चक्र का संबंध रस से है। अनाहतचक्र भी द्वि–दिशात्मक है यह शरीर के सामने और पीछे की दिशा में बना है। यह चक्र ऊर्जा ग्रहण भी कर सकता हैं और संचारण भी करता है।

<u>एड्रिनल ग्रंथि और मणिपुर चक्र</u> :– एड्रिनल ग्रंथि दो हैं, एक–एक दोनो गुर्दे के ऊपर बनी होती है। प्रत्येक ग्रंथि के दो भाग हैं कारटेक्स और मेडुला। कारटेक्स स्टीरायड्स और एड्रेनलीन का उत्पादन करता है जो हमारी मांसपेशियो को ऊर्जा प्रदान करते हैं। मेडुला स्नायुतंत्र से जुड़ा रहता है। मणिपुर चक्र भी

द्वि–दिशात्मक है, यह शरीर के सामने और पीछे की तरफ निकला रहता है और ऊर्जा ग्रहण भी कर सकता है और ऊर्जा संचारण भी कर सकता है। मणिपुर चक्र का संबंध गंध से है। हम कई बार अपने अन्दर की अनुभूति करते हैं, जैसे कि हमें अच्छे–बुरे की गंध आ जाती है।

कारटेक्स एल्डोस्टीरोन हारमोन बनाता है जो शरीर में लवण और पानी का संतुलन बनाये रखता है। कोर्टिसोल हारमोन कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन के चपापचय को नियंत्रित करता है। पुरूष हारमोन एन्ड्रोजीन और स्त्री हारमोन एस्ट्रोजीन का उत्पादन न्यूनाधिक मात्रा में पुरूष और स्त्री दोनों में होता है।

मेडुला दो हारमोन बनाता है एपीनेप्रीन और नोरएपीनेप्रीन। ये शरीर को खतरे से लड़ने और तनाव को नियंत्रित करने में सहायता करते हैं।

गोनड़ ग्रंथि और स्वाधिष्ठान चक्र :– गोनड़ ग्रंथि पुरूष में दो अंडकोश के रूप में होती है और स्त्री में दो ओवरी के रूप में होती है। ये ग्रंथियां हारमोन रिसाव तथा प्रजनन संबंधी कार्य करती हैं। स्नायु कार्य यौन अंगो द्वारा किया जाता है। स्वाधिष्ठान चक्र द्वि–दिशात्मक है, यह ऊर्जा ग्रहण और संचारण दोनों कर सकता है। यह चक्र स्पर्श से संबंध रखता है।

पेनक्रियाज :– अग्नाशय नामक ग्रंथि से निकलने वाले इन्सुलिन नामक हारमोन की कमी पड़ जाने से मधुमेह की शिकायत हो जाती है। रोगी में भोजन से बनी हुई शर्करा शरीर में काम नहीं आती, वरन् रक्त में उसकी मात्रा बढ़ जाती है, उधर शर्करा के अभाव मे शरीर क्षतिग्रस्त होता चला जाता है। आधा लीटर रक्त में एक औंस के साठवे भाग के बराबर शर्करा रहती है। इसे एक प्रकार का ईंधन कहना चाहिए, जिसके आधार पर कोशिकाओं तथा मांसपेशियों को एवं समस्त अवयवों को गरम और गतिशील रखने का अवसर मिलता है, इस कार्य मे इन्सुलीन की सहायता एड्रिनेलिन भी करता है।

जहाँ तक खोज का विषय है अंतःस्रावी ग्रंथियों को उनसे प्रवाहित होने वाले रस के स्वरूपों को समझ लिया गया हैं और उनका रासायनिक विश्लेषण कर लिया गया है। पर उनकी असाधारण महत्ता और असाधारण हरकत का कुछ कारण नहीं जाना जा सका। इतना ही नहीं उनके नियंत्रण का भी कोई उपाय हाथ नहीं लगा है। यह मोटा और भोंडा तरीका है कि उसी स्तर के रसायन बाहर से पहुँचाकर उन स्रावों की कमी बेशी के परिणामों को रोकने का प्रयत्न किया जाए। इतना ही बन पड़ा है, सो किया भी गया है। उसका लाभ होता तो है पर रहता क्षणिक ही है। भीतर का उपार्जन बंद हो जाए तो बाहर से पहुँचाई मदद कब तक काम देगी? बात तब बनती

है जब उत्पादन के केन्द्र स्वतः ही अपने स्रावों को घटा या बढ़ा लें। पर यह स्थिति हाथ नहीं आ रही है। शरीर शास्त्रियों के सारे प्रयत्न अब तक निष्फल ही रहे हैं और आगे भी उनकी अद्‌भूत संरचना और कार्य पद्धति को देखते हुए अधिक आशा नहीं बंधती।

ओछी भावनाएँ अंतरात्मा मे जमी हो और छोटा बनाने वालों पर बड़प्पन के संस्कार जग जायें तो शरीर को ही नहीं, मस्तिष्क को भी बड़ा बनाने वाले हारमोन उत्पन्न होगें। इंद्रिय भोगों में आसक्त अंतः भूमिका अपनी तृप्ति के लिए कोमोतेजक अंतःस्रावों की मात्रा बढ़ती है। विवेक जागृत हो और विषय भोगों की निरर्थकता एवं उनकी हानियों को गहराई से समझ लिया जाए तो उन हारमोनों का प्रवाह सहज ही कुंठित हो जाता है। इसी प्रकार वियोग, विश्वासघात, अपमान जैसे आघात अंतःकरण की गहराई तक चोट पहुँचा दे तो युवावस्था में भी भले चंगे हारमोन स्त्रोत सूख सकते हैं, इसके विपरीत यदि रसिकता की लहरें लहराती रहें तो वृद्धावस्था में भी वे यथावत् गतिशील रह सकते हैं। जन्मांतरों की रसानुभूति बाल्यावस्था में भी प्रबल होकर उस स्तर की उत्तेजना समय से पूर्व ही उत्पन्न कर सकती है।

पिनीयल ग्रंथि भूमध्य भाग में है जहाँ देवताओं का तीसरा नैत्र बताया जाता है। प्राचीनकाल में ऐसे प्राणी भी थे, जिसके मस्तिष्क में सचमुच एक अतिरिक्त तीसरी आंख और भी होती थी, जिससे वे बिना गर्दन मोड़े पीछे के दृश्य भी देख सकें। अभी भी अफ्रीका मे कुछ ऐसी छिपकलियाँ देखी गई हैं, जिनके सिर पर कोर्निया, रेटिना लेन्सयुक्त पूरी तीसरी आंख होती है। धान के दाने की बराबर धूसर रंग की इस छोटी–सी ग्रंथि मे आश्चर्य ही आश्चर्य भरे पड़े हैं। काम दहन की शिवजी की कथा की इस हारमोन से संगति अवश्य बैठती है, पर अंतःकरण की रूझान जिस स्तर की होगी–शरीर ओर मन को ढालने के लिए हारमोनों का प्रवाह उसी दिशा मे बहने लगता है।

हारमोनों की घटोतरी–बढ़ोतरी का आहार–विहार से कोई सीधा संबंध नहीं है। इसीप्रकार उनका सचेतन मन से भी कोई संबंध अभी तक स्थापित नहीं किया जा सका। इसीप्रकार आनुवांशिकी विज्ञान में पैतृक जीनों से भी उनकी कुछ संगति नहीं बैठती, अचेतन मन से कोई संग्रहीत संस्कार उन्हें प्रभावित करता हो, ऐसी भी तुक किसी प्रकार नहीं बैठती। फिर अकारण इन अंतःस्रावों की अकस्मात् क्यों घटोतरी–बढ़ोतरी आरंभ हो जाती है? इसका यथार्थ कारण ढूंढना हो तो हमे अधिक गहराई तक जाना पड़ेगा। इसके आधार मनुष्य की सूक्ष्मतम चेतना से संबंधित हैं।

काम क्रीड़ा शरीर द्वारा होती है, कामेच्छा की मन में उत्पत्ति होती है पर

इन हारमोनों की जटिल प्रक्रिया न शरीर से प्रभावित होती है, और न मन से। उसका सीधा संबंध मनुष्य की अंतर चेतना से है, इसे आत्मिक स्तर कह सकते हैं। जीवात्मा मे काम बीज जिस स्तर के होते हैं तदनुरूप शरीर और मन का ढाँचा ढलता और बनता–बिगड़ता है। हारमोनों को भी प्रेरणा, उत्तेजना वहीं से मिलती है।

मनुष्य का कारण शरीर– ह्रदय, अंतःकरण, आत्म–चेतना आदि नामों से भी पुकारते हैं, का संबंध उसकी आस्था, श्रद्धा, आकांक्षा, भावना एवं अहंता से है। उस स्तर के पाप–पुण्य वहाँ छाये रहते हैं और इन्हीं के आधार पर जीव की अन्तरंग सत्ता का प्रकटीकरण होता है। हारमोन इसी स्तर की स्थिति में प्रभावित होते हैं, इसीलिए यदि उन्हें चाहें तो संचित प्रारब्ध अथवा संग्रहीत संस्कार भी कह सकते हैं। यह संचय इस जन्म का भी हो सकता है और पिछले जन्मों का भी। परिवर्तन एवं उपचार इस स्तर की स्थिति का भी हो सकता है, पर वे प्रयत्न होने उसी प्रकार के चाहिए, जो आंतरिक सत्ता की गहराई तक प्रवेश कर सके और अपना प्रभाव उस पृष्ठभूमि तक उतार सके।

क्या हारमोन क्षेत्र पर नियंत्रण हो सकता है? क्या उनकी विकृत गतिविधियों को संतुलित किया जा सकता है ? क्या इच्छा या आवश्यकता के अनुरूप इन्हें घटाया बढ़ाया जा सकता है ? इसका उत्तर हाँ में दिया जा सकता है। पर यह समझ लेना चाहिए कि इसके लिए प्रयास वे करने पड़ेंगें, जो अंतश्चेतना को गहराई तक प्रभावित करते हैं। शारीरिक आहार–विहार या मानसिक तर्क–वितर्क या उपचाारों के द्वारा उस गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता जहाँ इन हारमोनो का मूलभूत उद्‌गम है। केवल आध्यात्मिक साधनाओं का मार्ग ही ऐसा है, जो शरीर और मन को प्रभावित करके हारमोनों को ही नहीं और भी कितने ही महत्वपूर्ण आधारों मे हेर–फेर करके मनुष्य को सामान्य से असामान्य बना सकता है।

6.5 चैतन्य केन्द्रः जैन दृष्टिकोण

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार हमारी चेतना के दो रूप हैं – व्यक्त चेतना और अव्यक्त चेतना। मनोविज्ञान इन्हें चेतन और अचेतन मन कहता है। हमारे शरीर में जितनी भी ग्रंथियाँ हैं, वे सब अवचेतन मन हैं, सब कोन्शियस माइंड हैं। हमारे शरीर में दो नियामक तंत्र हैं नाड़ी तंत्र और ग्रंथि तंत्र। नाड़ी तंत्र में हमारी सारी वृतियाँ अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव मे आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती हैं। आदतों का जन्म ग्रन्थि तंत्र में होता है। वे आदतें मस्तिष्क के पास पहुँचती हैं, अभिव्यक्त होती हैं और व्यवहार में उतरती हैं। ग्रंथि–तत्र और नाड़ी तंत्र का संयुक्त तंत्र अर्धचेतन मन

का एक भाग है। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है अतः मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान है। यदि इसे सही साधनों के द्वारा जागृत करते हैं तो भय से मुक्ति मिलती है। भय से मुक्त होने का अर्थ है सारी बाधाओं से मुक्त होना। शरीर शास्त्र अभी यह बताने में समर्थ नहीं है कि ग्रंथियों की जागृति के साधन क्या हैं ? अध्यात्म के पास इसका उत्तर है और वह उत्तर प्रयोगात्मक है।

श्वास–प्रेक्षा, शरीर–प्रेक्षा, आत्म–प्रेक्षा, लेश्याओं का ध्यान–ये सब ग्रंथियों को सक्रिय करने के साधन हैं। सभी ग्रंथियाँ चैतन्य केन्द्र हैं जहाँ आत्मा की चैतन्यता सघन रूप में प्रकट होती है। इन चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से वे सक्रिय होते हैं। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होगें। एक नया आयाम खुलेगा। नया आनन्द, नई स्फूर्ति, नया उल्लास प्राप्त होगा।

जैन सूत्रों में एक चर्चा हैं आठ आत्म–प्रदेश ऐसे हैं, जो प्रकट रहते हैं, अभिव्यक्त रहते हैं। उन पर कोई आवरण नहीं होता। जिन्हें हम मनः चक्र की आठ पंखुड़ियां कहते हैं , वे आठ प्रदेश हैं। वहाँ चेतना पहुँचने पर सम्यक्त्व के विकास का जागरण होता है। हमारी प्राण शक्ति जब नीचे रहती है, उस स्थिति में चेतना का विकास नहीं हो सकता, सम्यक् दृष्टि का विकास नहीं हो सकता। प्राण शक्ति को ऊपर की ओर ले जाए बिना उसमें स्थिरता नहीं आ सकती, मन की चंचलता समाप्त नहीं हो सकती। इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त हुए बिना जागृति प्राप्त नहीं होती। जब तक अनन्तानुबन्ध की ग्रन्थि, जिसे राग–द्वेष की ग्रन्थि कहते हैं, समाप्त नहीं होती तब तक जागरण प्राप्त नहीं हो सकता। ग्रन्थि का विच्छेदन या ग्रन्थि का क्षीण होना आवश्यक है।

प्रश्न हैं वह ग्रन्थि कहाँ है? वह हमारे मनः चक्र में है? इसे हम गांठ क्यों मानते है ? इसका एक कारण है। हमारे शरीर के जो स्नायु हैं, वे स्नायु सीधे भी चलते हैं और टेढ़े–मेढ़े भी चलते हैं। वे स्नायु जहाँ बहुत उलझे हुए हैं, टेढ़े हैं, उन्हें गांठ कहा जाता है। प्राणशक्ति को वहाँ घुमाव करके गति करनी पड़ती है इसलिए उसे ग्रन्थि कहा जाता है। कुछ लोग उसे चक्र भी कहते हैं। इसे कमल भी कहा जाता है। कमल कहने का अर्थ बहुत महत्वपूर्ण है। कमल का धर्म है– संकुचित और विकसित होना। वहाँ हमारी चेतना या प्राणशक्ति के द्वारा उन स्नायुओं में या उलझे हुए तारों में संकोच और विकोच भी होता रहता है। चेतना प्रवाहित होती है, वे खुल जाते हैं, विकसित हो जाते हैं। जब प्राणशक्ति का प्रवाह कम होता है, वे फिर सिकुड़ जाते हैं, संकुचित हो जाते हैं। इसलिए ग्रन्थि, चक्र या कमल ये तीनों बाते कहीं जा सकती है– मनः चक्र, मनोग्रन्थि या मनः कमल।

ग्रन्थिभेदन की प्रक्रिया :– मन के चक्र से ह्रदय चक्र बिल्कुल भिन्न है। ह्रदय चक्र से भिन्न जो मन का चक्र है, उसकी कर्णिका में जाकर अपनी सारी चेतनाओं को समेट कर, हमारी चिंतन की रश्मियां, हमारी परिणाम धारा और हमारी भाव धारा, जो सारे शरीर में प्रवाहित होती है, उसे संकुचित कर, समेटकर, जब तक मनः चक्र की कर्णिका पर केन्द्रित नहीं कर देते हैं, तब तक उस ग्रन्थि का भेदन नहीं होता है और उस ग्रन्थि का भेदन हुए बिना जागृति, सम्यकदर्शन या सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता।

अपनी धारणा के द्वारा प्राणशक्ति को मनः चक्र में केन्द्रित करना और वहाँ से केन्द्रित कर फिर प्राणायाम करना – रेचक, पूरक, कुंभक आदि विविध ध्यान करने पर मन की ग्रन्थि धीमे–धीमे खुलने लग जाती है और एक दिन ऐसा आता है कि ग्रन्थि पूर्णतः खुल जाती है। ग्रन्थि–मोक्ष हो जाता है। ग्रन्थि का मोक्ष होते ही जागरण का क्षण प्रकट हो जाता है, हमारी दृष्टि सम्यक् बन जाती है। हमें स्पष्ट लगने लगता है कि स्थूल शरीर से भी बड़ी एक शक्ति है, वह है सूक्ष्म शरीर। हमें सूक्ष्म शरीर की शक्ति का बोध हो जाता है और हमारी दृष्टि बदल जाती है।

अतीन्द्रिय चेतना

मनुष्य का शरीर अनेक रहस्यों से जुड़ा हुआ है। शरीर के कुछ भाग ज्ञान और संवेदन के साधन बने हुए हैं। वे भाग "करण" कहलाते हैं। आँख एक "करण" है। मनुष्य के पूरे शरीर में करण बनने की क्षमता है। यदि संकल्प के विशेष प्रयोगों के द्वारा पूरे शरीर को करण किया जा सके तो पूरे शरीर से सुना जा सकता है, देखा जा सकता है, चखा जा सकता है, गंध का अनुभव किया जा सकता है। इन्द्रिय चेतना की भांति मानसिक चेतना का भी विकास किया जा सकता है। स्मृति मन का एक कार्य है। इसे विकसित करके पूर्वजन्म की स्मृति, दूर–दर्शन, दूर–श्रवण, दूर–आस्वादन और दूर–स्पर्शन की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। ये सब विशिष्ट क्षमताएँ हैं फिर भी इन्हें अतीन्द्रिय चेतना नहीं कहा जा सकता।

आत्मा समूचे शरीर में विद्यमान है और उसके असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश के द्वारा आत्मा जानती है। एक्यूपंक्चर के वैज्ञानिकों ने हमारे शरीर में सात सौ चैतन्य केन्द्र खोज निकाले हैं। जो केन्द्र मस्तिष्क मे हैं वही केन्द्र अंगूठे मे भी हैं, अंगुलियों में भी हैं। पिनीयल, पिट्यूटरी और थायरॉइड के जो स्थान हैं, वे स्थान हाथों और पैरों में भी हैं। हमारा समूचा शरीर चेतना का केन्द्र है। पाँचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से लिया जा सकता है।

शक्ति और चैतन्य के ये केन्द्र सुप्त अवस्था मे रहते हैं। अभ्यास के द्वारा इन्हें जागृत किया जा सकता है। जागृत अवस्था में वे करण बन जाते हैं। करण को विज्ञान की भाषा में विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र (इलेक्ट्रो मेगनेटिक फील्ड) कहा जा सकता है। तंत्र शास्त्र मे छह या सात चक्रों का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। चक्रों और ग्रंथियों का स्थान भी प्रायः एक ही है। जैन पराविद्या के अनुसार शक्ति और चैतन्य केन्द्र अनगिन हैं। वे पूरे शरीर मे फैले हुए हैं। उन्हें ग्रंथियों तक सीमित नहीं किया जा सकता। ग्रंथियों का काम कर्म शरीर से आने वाले कर्म–रसायनों और भावों का प्रभाव प्रदर्शित करना है। अतीन्द्रिय चेतना को प्रकट करना उनका मुख्य कार्य नहीं है। वे अतीन्द्रिय चेतना की अभिव्यक्ति के लिए विद्युत–चुम्बकीय–क्षेत्र बन सकते हैं अथवा उनके आसपास का क्षेत्र विद्युत–चुम्बकीय–क्षेत्र बन सकते हैं। उनके अतिरिक्त शरीर के और भी अनेक भाग विद्युत–चुम्बकीय–क्षेत्र बन सकते हैं। इसलिए शक्ति–केन्द्रों और चैतन्य केन्द्रों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। जब समता, ऋजुता, आदि विशिष्ट गुणों की साधना के द्वारा वे केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं, करण बन जाते हैं, तब उनमें अतीन्द्रिय चेतना प्रकट होने लग जाती है। यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं है। यह एक स्थाई विकास है। एक बार चैतन्य केन्द्र के सक्रिय हो जाने पर जीवन भर उसकी सक्रियता बनी रहती है।

अतीन्द्रिय चेतना की प्रारम्भिक अवस्था पूर्वाभास, अतीतबोध और उसकी विकसित अवस्था की सीमा को समझा जा सकता है। मनः पर्ययज्ञान भी अतीन्द्रिय ज्ञान है। विचार – संप्रेषण विकसित इन्द्रिय – चेतना का ही एक स्तर है। अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। जिस ज्ञान के क्षण में इन्द्रिय और मन को माध्यम बनाना आवश्यक नही होता, वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रिय और मन के माध्यम से होने वाला ज्ञान विशिष्ट कोटि का होने पर भी परोक्ष ही होता है। आज के मनुष्य ने अतीन्द्रिय ज्ञान की साधना खो दी और अतीन्द्रिय ज्ञान के विकास करने का अभ्यास भी खो दिया, पद्धति विस्मृत हो गई। आधुनिक विज्ञान अब अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आसपास पहुँच रहा है।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिक ने यह तथ्य प्रकट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रों को चुम्बकीय क्षेत्र नही बना लेता, तब तक उसके पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग, उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी–गर्मी को सहने का अभ्यास इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय क्षेत्र में बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

चैतन्य केन्द्रों को निर्मल बनाने का सबसे सशक्त साधन है ध्यान। प्रियता और अप्रियता के भाव से मुक्त चित नाभि के ऊपर के चैतन्य केन्द्रों– आनन्द केन्द्र, विशुद्धि–केन्द्र, प्राण–केन्द्र, दर्शन–केन्द्र, ज्योति–केन्द्र और ज्ञान–केन्द्र पर केन्द्रित होता है, तब वे निर्मल होने लग जाते हैं। उसका दीर्घकालीन अभ्यास अतीन्द्रिय ज्ञान की आधारभूमि बन जाता है। अतीन्द्रिय चेतना के विकास के साथ चरित्र के विकास का गहरा संबंध है। यहाँ चरित्र का अर्थ समता है, राग–द्वेष या प्रियता–अप्रियता के भाव से मुक्त होना है। उसकी अभ्यास पद्धति प्रेक्षा–ध्यान और अन्य ध्यान पद्धतियाँ हैं।

6.6 समीक्षा

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन प्रमुख नाडियाँ मानी गई हैं। सुषुम्ना तीन नाडियों से बनी है– वज्रा, चित्रणी और ब्रह्म नाड़ी। ब्रह्म नाड़ी मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक स्थित है और इसके मेरुदण्ड मार्ग में छः मुख्य चक्र हैं। इस नाड़ी में प्राण प्रवाह होता है। चक्रों के स्थान पर नाड़ी का रास्ता कुछ टेडा–मेडा होता है। प्राण के वक्र प्रवाह के कारण स्थानीय प्राण शरीर में भी चक्राकार गति उत्पन्न हो जाती है, और कोन रुप में एक चक्र का निर्माण हो जाता है। छहों चक्रों की गति भिन्न–भिन्न है और इस प्रकार उनकी आवृति भी भिन्न–भिन्न है। मूलाधार चक्र की आवृति सबसे कम है। ऊपर के चक्रों की आवृति क्रम से बढती है और सहस्रार की आवृति सबसे अधिक है। आवृति और अन्य गुणों की विभिन्नता के कारण हर चक्र की अपनी विशेषता है। आवृति की विशिष्टता के अनुसार हमारा शरीर ब्रह्माण्ड से ऊर्जा आकर्षित करता है। यह ऊर्जा मस्तिष्क के ऊपरी भाग शिखा स्थान से प्रवेश करती है और ब्रह्म नाडी से होकर मूलाधार तक जाती है। मार्ग में विभिन्न चक्र अपनी–अपनी आवृति के अनुसार यह ब्रह्माण्डीय ऊर्जा ग्रहण करते हैं और उसे अपने से संबंधित ग्रंथि और अन्य अंग अवयवों को रक्त और स्नायुतंत्र के माध्यम से प्रवाहित करते हैं। हमारे शरीर के भौतिक अवयव भी निरन्तर विद्युत चुम्बकीय विकिरण उत्सर्जित करते हैं। ये विकिरण स्नायुतंत्र ऊर्जा से मिल कर आभामण्डल का निर्माण करते हैं। आभामण्डल और वायुमण्डल के बीच भी ऊर्जा का आदान–प्रदान होता है। आवृति के अनुसार हर चक्र का रंग होता है।

चक्र का आकार और उसकी चमक व्यक्ति के विकास, स्वास्थ, प्राण ऊर्जा, रोग और मनोदशा पर निर्भर करते हैं। चक्रों के संतुलित होने पर वे समुचित मात्रा में ब्रह्माण्डीय ऊर्जा को ग्रहण करते हैं। उस अवस्था में व्यक्ति स्वस्थ और प्रसन्न

रहता है।

चक्र कोन आकार के होते हैं, कोन का सिरा अंतःस्रावी ग्रंथि की दिशा में रहता है और वर्तुलाकार भाग शरीर के बाहर निकला रहता है। कुछ चक्र ऊर्जा ग्रहण भी करते हैं और संप्रेषित भी करते हैं और कुछ चक्र केवल ऊर्जा ग्रहण करते हैं। सहस्रार चक्र ऊर्ध्व दिशा में फैलता है और मूलाधार चक्र अधोदिशा में फैलता है और दर्शन चक्र, आज्ञा चक्र केवल आगे की दिशा में फैलते हैं तथा विशुद्धि, अनाहत, मणिपुर और स्वाधिष्ठान चक्र आगे और पीछे दोनों तरफ होते हैं। सहस्रार और मूलाधार चक्र केवल ऊर्जा ग्रहण कर सकते हैं तथा दर्शन, आज्ञा, विशुद्धि, अनाहत, मणिपुर, स्वाधिष्ठान चक्र ऊर्जा ग्रहण भी करते हैं और ऊर्जा संप्रेषित भी करते हैं।

अंतःस्रावी ग्रंथियाँ आकार में छोटी होते हुए भी शरीर की सभी क्रियाओं का नियंत्रण करती हैं, मस्तिष्क पर भी उनका ही नियंत्रण है। यह नियंत्रण ग्रंथियों से स्रावित होने वाले हारमोन्स के द्वारा होता है। ग्रंथियों का दूसरा काम यह हैं कि वे चक्रों के माध्यम से आने वाली ऊर्जा को ग्रहण करती हैं और इसकी सूचना मस्तिष्क को भेजती हैं। पिनीयल ग्रंथि अन्य सभी ग्रंथियों पर नियंत्रण रखती है। पिनीयल ग्रंथि से निकलने वाले हारमोन मेलाटोनीन का नींद पर नियंत्रण है। यह कार्य दर्शनावरणीय कर्म का भी हैं। इस प्रकार पिनीयल ग्रंथि का संबंध दर्शनावरणीय कर्म से सिद्ध होता हैं। इसी प्रकार पीयुष ग्रंथि और नाम कर्म के कार्य में समानता हैं। पिनीयल ग्रंथि हमारे शरीर का सबसे महत्वपूर्ण भाग है और यह केवल एक मटर के दाने के आकार की है। यह चेतना का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र है और अतीन्द्रिय शक्तियों का स्थान है। हमारे शरीर में आनन्द केन्द्र ऐसा स्थान है जहाँ से सम्भवतया शरीर का निर्माण प्रारम्भ होता है।

अंतःस्रावी ग्रंथियों के कार्य को तो वैज्ञानिकों ने लगभग समझ लिया है परन्तु वे अभी तक यह नहीं जान पाये हैं कि इन ग्रंथियों के स्राव कैसे नियंत्रित होते हैं। कृत्रिम रूप से स्त्रावों की कमी की पूर्ति करना एक अस्थायी समाधान अवश्य है परन्तु ग्रंथि में स्वतः ही हारमोन उत्पादन का संतुलन कैसे करें, यह वैज्ञानिकों की सामर्थ्य के बाहर है। अध्यात्म विज्ञानियों को इसका ज्ञान है, वे हारमोन नियंत्रण के उपाय बता सकते हैं।

जैन मत के अनुसार हमारे सभी ग्रंथि स्थान चैतन्य केन्द्र हैं जहाँ आत्मा की चैतन्यता सघनता से प्रगट होती है। इन चैतन्य केन्द्रो पर ध्यान करने से ये सक्रिय होते हैं और हारमोन्स का स्त्राव भी संतुलित रहता है। ऐसी स्थिति में हमारी दृष्टि सम्यक बन जाती है और हमें सूक्ष्म शरीर की शक्ति का बोध हो जाता है। सूक्ष्म चेतना

जागृत होने पर हमारा ध्यान सद्गुणों और सदाचार की तरफ जाने लगता है, हमारे जीवन में नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक उत्कृष्टता का समावेश होने लगता है। स्थूल शरीर की महत्ता कम लगने लग जाती है, शारीरिक सुखों से मोह छूटने लग जाता है। हम मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं। उपरोक्त सात मुख्य चैतन्य केन्द्रों के अतिरिक्त हमारे शरीर में अनगिन अन्य केन्द्र हैं। वस्तुतः हमारी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश चैतन्य केन्द्र है। मुक्ति अवस्था के निकट पहुँचने पर ये सभी केन्द्र जागृत हो जाते हैं। यही केवल ज्ञान की स्थिति है, जब जीवात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हो जाता है।

6.7 संदर्भ

1. गायत्री महाविज्ञान भाग 1 — प.श्रीराम शर्मा आचार्य
2. चेतना की प्रचण्ड क्षमता एक दर्शन — पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
3. अणु में विभु–गागर में सागर — पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
4. चित्त और मन — आचार्य महाप्रज्ञ
5. विभिन्न वेबसाइट्स

अध्याय 7

स्नायुतंत्र, मस्तिष्क और विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र

7.1 स्नायुतंत्र

हमारे शरीर के सारे कार्य स्नायु तंत्र द्वारा नियंत्रित हैं। हमारी अपने बारे में और वातावरण की सारी जानकारी स्नायुतंत्र के माध्यम से ही प्राप्त होती है। स्नायुतंत्र एक इंजन की तरह है जो शरीर का वाहन चलाता है।

कोशिका – कोशिका वह इकाई है जिससे शरीर की रचना होती है। कोशिका हमारे शरीर की लघुतम इकाई है। विभिन्न प्राणियों के शरीर में पाई जाने वाली कोशिकाओं में कुछ भिन्नता होती हैं। इसी प्रकार एक ही प्राणी के शरीर में पाई जाने वाली कोशिकाओं में भी अन्तर होता है। प्रत्येक कोशिका में साइटोप्लाजम नाम का एक द्रव्य तथा एक केन्द्रक होता है, दोनों एक झिल्ली के अन्दर बन्द होते हैं। हमारे जीवन का आधार कोशिका के अन्दर के क्रियाकलाप और विभिन्न कोशिकाओं में आपसी तालमेल है।

न्यूरान – स्नायुतंत्र की रचना में जो कोशिका काम आती है उसे न्यूरान कहते हैं। ये न्यूरान हमारे शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर सूचना भेजते हैं। हमारे एक विचार की प्रक्रिया में हजारों – लाखों न्यूरान का योगदान रहता है। न्यूरान ही वातावरण से सूचना एकत्रित करते हैं और मस्तिष्क को भेजते हैं। स्मृति का संग्रहण भी न्यूरान द्वारा होता है और यही स्मृति हमारे व्यवहार का आधार बनती है। हमारे स्नायुतंत्र में कई आकार और रूप के न्यूरान होते हैं। हर न्यूरान में सोमा, डेन्ड्राइट्स और एक्सन ये तीन भाग होते हैं। एक न्यूरान से दूसरे न्यूरान तक सूचना विद्युत आवेग श्रंखला के रूप में जाती है। दो न्यूरान के बीच के जंक्शन को साइनेप्स कहा जाता है। सूचना प्रसारण में जो रसायन काम आते हैं उन्हें न्यूरोट्रांसमीटर कहा जाता है। कार्य के आधार पर न्यूरान को दो श्रेणी में विभाजित किया गया है। (1) रेसेप्टर न्यूरान जो स्नायु तंत्र में सूचना ग्रहण करते हैं और (2) मोटर न्यूरान – जो मस्तिष्क से सूचना विभिन्न अंग अवयवों को ले जाते हैं। ये न्यूरान ही अवचेतन मन के कार्य भी करते हैं। स्नायुतंत्र के दो भाग हैं–

क) केन्द्रीय स्नायु तंत्र – केन्द्रीय स्नायुतंत्र में मस्तिष्क और मेरूदण्ड आते हैं। इसका कार्य विद्युत आवेगों का संचारण और इंद्रियों से सूचना प्राप्त करना है।

ख) पेरीफिरल स्नायुतंत्र :– पेरीफिरल स्नायतंत्र का कार्य केन्द्रीय स्नायुतंत्र और शरीर के बीच सूचना का आदान प्रदान है। इसके दो भाग हैं–

1) सोमेटिक सिस्टम :– सोमेटिक सिस्टम मस्तिष्क और मेरूदण्ड को जोड़ता है। हमारी इंद्रियों से सूचना सोमेटिक सिस्टम द्वारा प्राप्त होती हैं और यही से हाथ पैर आदि को कार्य करने के संकेत भेजे जाते हैं।

2) ओटोनोमिक सिस्टम :– ओटोनोमिक सिस्टम हमारे ह्रदय, पेट, लीवर आदि अंगो के अनैच्छिक कार्यो को नियंत्रित करता है। ओटोनोमिक सिस्टम के भी दो भाग हैं।

सिम्पेथेटिक स्नायु सिस्टम – यह सिस्टम आपातकाल और तनाव पूर्ण अवस्था में मुख्य रूप से कार्य करता है। यह हमारी भावनाओं को नियंत्रित करता है।

पेरासिम्पेथेटिक स्नायु सिस्टम – यह सिस्टम सामान्य अवस्था में मुख्य रूप से कार्य करता है। वैसे दोनो ही सिस्टम तालमेल बिठाकर साथ–साथ काम करते हैं।

मेरूदण्ड – मेरूदण्ड में स्थित न्यूरान रिफलेक्स एक्सन का कार्य करते हैं। ये न्यूरान इंद्रियों के संवेदनशील न्यूरान से सूचना भी ग्रहण करते हैं और उसे मस्तिष्क को भेजते हैं तथा मस्तिष्क से आने वाले निर्देश को हाथ पैर आदि के मोटर मांसपेशियों को भेजते हैं।

मस्तिष्क :– लगभग हमारे कानों और आंखों के ऊपर सिर का भाग मस्तिष्क है जो सुरक्षा के लिए हड्डियों से घिरा हुआ है। पुरूष के मस्तिष्क का औसत भार 1.4 किलोग्राम है और स्त्री के मस्तिष्क का औसत भार 1.3 किलोग्राम है। केन्द्रीय स्नायुतंत्र का लगभग 97 प्रतिशत भाग मस्तिष्क में है। मस्तिष्क मेरुदण्ड के ऊपरी भाग से जुड़ा है। मस्तिष्क के तीन भाग हैं– सेरेब्रम (वृहद मस्तिष्क), सेरेबेलम (लघु मस्तिष्क) और ब्रेनस्टेम। ब्रेन स्टेम के अंग मेंडुला ओबलोंगाटा (सुषुम्ना शीर्ष), मध्य ब्रेन और पोन्स (मस्तिष्क सेतु)हैं।

अ). सेरेब्रल कॉरटेक्स – यह मस्तिष्क में सबसे ऊपरी परत है। मस्तिष्क दो गोलार्द्ध मे बटा हुआ है, बाँया गोलार्द्ध और दाँया गोलार्द्ध। बाँया गोलार्द्ध हमारे शरीर के दाँये भाग को नियंत्रित करता है और दाहिना गोलार्द्ध शरीर के बाँये भाग को नियंत्रित करता है। मस्तिष्क के दो मुख्य काम हैं (1) ज्ञान कार्य – जैसे कि सीखना, स्मृति रखना और सोचना और (2) शरीर की फिजियोलॉजी का नियंत्रण।

(ब) सेरेब्रल कारटेक्स के लोब्स :– संरचना और कार्य के आधार पर सेरेब्रल कॉर्टेक्स को चार लोब्स में विभाजित किया गया है – फ्रन्टल, ओकीपिटल, पेरियेटल और टेम्पोरल लोब्स। हमारी आँखों के द्वारा प्राप्त दृश्य सूचना ओकीपिटल लोब में स्थित दृश्य कॉर्टेक्स को प्राप्त होती है।

हमारे कानों द्वारा प्राप्त ध्वनि सूचना टेम्पोरल लोब में स्थित ध्वनि कोर्टेक्स को प्राप्त होती है। हमारे शरीर द्वारा प्राप्त स्पर्श आदि सूचना पेरियेटल लोब में स्थित

सोमेटेसेन्सरी कॉर्टेक्स को प्राप्त होती है। मोटर अंगो के संचालन में समन्वय करना, योजना बनाना, ध्यान देना, सामाजिक व्यवहार कुशलता आदि फ्रन्टल लोब के कार्य हैं।

जैसे कि ऊपर बताया गया है कि सेरेब्रल कॉर्टेक्स के दोनों गोलार्द्ध शरीर के विपरीत दिशा वाले भाग को नियंत्रित करते हैं परन्तु दोनों गोलार्द्ध मिल कर सम्पूर्ण मानसिक कार्यो को अंजाम देते हैं। फिर भी दोनों गोलार्द्ध के जिम्मे कुछ विशेष कार्य रहते हैं। सामान्य रूप में भाषा, लॉजिक और मोटर व्यवहार बायें गोलार्द्ध का मुख्य कार्य है तथा रूप – आकार और अभाषा कार्य, जैसे दृश्य की कल्पना, स्पर्श से समझना, चेहरा पहचानना, संगीत और संकेतों को समझना आदि दायें गोलार्द्ध का मुख्य कार्य है।

अनुमस्तिष्क (सेरिबेलम) में लगभग 120 अरब न्यूरान हैं और मस्तिष्क के बाहरी ग्रे मेटर में लगभग 10 अरब न्यूरान हैं। एक न्यूरान का व्यास एक इंच के एक हजारवें भाग से भी कम है। मेरूदण्ड में एक करोड़ 35 लाख तंत्रिकाएँ हैं। इसके अतिरिक्त ग्लाया स्तर की एक अरब कोशिकाएँ हैं जिनमें मस्तिष्कीय चेतना उत्पन्न नहीं होती। न्यूरान में विद्युत संकेतों का प्रवाह 52 किलोमीटर प्रति सैकण्ड की गति से होता है। सामान्य व्यक्ति के मस्तिष्क में बीस वाट विद्युत शक्ति हर समय संचालित होती रहती है।

फ्रन्टल लोब विशिष्ट क्षमताओं का केन्द्र है जिसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व, आकांक्षाएँ, व्यवहार, प्रक्रिया, अनुभूतियां, संवेदनाएँ, आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रवृतियों का निर्माण और निर्धारण होता है। इस केन्द्र को प्रभावित करने के लिए योग साधना की ध्यान धारणा जैसी उच्चस्तरीय प्रक्रियाएँ ही उपयुक्त हो सकती हैं, जिन्हें कुण्डलिनी जागरण के नाम से जाना जाता है।

टेम्पोरल कॉरटेक्स के भीतरी भाग में चारों तरफ लिपटी हुई काले रंग की पट्टियाँ होती हैं जिनका क्षेत्रफल 25 वर्ग इंच और मोटाई एक इंच के दसवें भाग के बराबर होती है। इस पट्टी में मुद्दतों पुरानी स्मृतियां छिपी रहती हैं।

अभी तक मस्तिष्क के दसवें भाग की ही जानकारी हो पाई हैं 90 प्रतिशत भाग अभी भी अज्ञात है। मनुष्य की बुद्धिमत्ता पिछले 10000 वर्षो से लगातार बढ़ रही है, किन्तु उसके मस्तिष्क के आकार और भार में कोई खास अन्तर नहीं आया है। सामान्य मनुष्य मस्तिष्क की क्षमता का 5–7 प्रतिशत भाग ही उपयोग करता है, शेष भाग का उपयोग नहीं हो पाता। वैज्ञानिकों के अनुसार मानव स्मृति कोष में सौ अरब सूचनाएँ संग्रहीत करने की क्षमता है। यह एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका के सभी

खण्ड से पाँच सो गुना अधिक है। बुद्धि के विकास का आधार भी मस्तिष्कीय न्यूरॉन कोशिकाओं में परस्पर बनने वाले सर्किटों की संख्या पर निर्भर है। मस्तिष्क में विद्यमान करोड़ो–करोड़ो न्यूरानों के परस्पर सर्किटों की संभाव्य संख्या 10^{800} है। विश्व का बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी अपने जीवन में इसका शतांश भी विकसित नहीं कर पाता है। बच्चा जब से सीखना प्रारम्भ करता है, उसके मस्तिष्क में नित नये सर्किट का निर्माण होता चला जाता है।

मस्तिष्क को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :–

1. चेतन मस्तिष्क – यह मस्तिष्क रात को सो जाता है और नशे या दवाओं से बेहोंश हो जाता है। यह भौतिक जानकारी संग्रह करने वाला मस्तिष्क है।
2. अचेतन मस्तिष्क – यह मस्तिष्क कभी नहीं सोता है। यह स्वसंचालित नाड़ी संस्थान को प्रभावित करने वाला मस्तिष्क है।
3. अतीन्द्रिय मस्तिष्क – यह मस्तिष्क भविष्य दृष्टा और दिव्य चेतना की क्षमता वाला है इसका स्थान आज्ञाचक्र है। मनोविज्ञानी इसे ESP (Extra Sensory Perception) के नाम से पुकारते हैं। इसी स्थान पर पिनीयल ग्रंथि स्थित है जो पक्षियों में चुम्बकीय दिशा सूचक का भी कार्य करती है।

पिनीयल ग्रंथि से निरन्तर इलेक्ट्रोमेगनेटिक तरंगे निकलती रहती हैं। इनकी क्षमता सामर्थ्य एक्स रे, लेसर आदि किरणों से भी अधिक मानी गई है। ये संकल्प से परिचालित तथा नियन्त्रित होती है। यही तरंगे परोक्ष जगत का दर्शन कराती हैं। इनकी सहायता से किसी भी व्यक्ति की मनःस्थिति – भावना, कल्पना, इच्छा, आकांक्षा आदि का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे अपनी ही नहीं दूसरों की प्रकृति को भी बदलना संभव है। इससे आत्माओं, भूत–प्रेत, पितरों से सम्पर्क भी सम्भव है। दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण, दूर दर्शन, भूत भविष्य का ज्ञान, पूर्वाभास, दुरानुभूति, विचार संप्रेषण आदि सम्भव है। सम्मोहन भी किया जा सकता है। आत्म–साक्षात्कार, ईश्वरानुभूति, दिव्य अनुदानों के आदान प्रदान सम्भव है।

हमारे मस्तिष्क से निरन्तर तरंगे प्रवाहित होती रहती हैं। जब हम जागृत होते हैं और सांसारिक कार्यो में व्यस्त होते हैं तो मस्तिष्क की तरंगे 14 से 17 हर्ट्ज आवृति वाली होती हैं। इन्हें बीटा तरंगे कहते हैं। जब हम पूरी तरह शांत होते हैं तो मस्तिष्कीय तरंगो की आवृति 8 से 13 हर्ट्ज तक की होती है। इन्हें अल्फा तरंगे कहते हैं। जब हम स्वप्न देखते हैं तो मस्तिष्कीय तरंगों की आवृति 14 से 7 हर्ट्ज होती हैं। इन्हें थीटा तरंगें कहते हैं। जब हम गहरी निद्रा में होते हैं तो हमारे मस्तिष्कीय तरंगो की आवृति 0 से 3 हर्ट्ज तक की होती है। इन्हें डेल्टा तरंगे कहते

हैं। जब हम ध्यान लगाते हैं तो जितने गहरे ध्यान में जाते हैं मस्तिष्क तरंगों की आवृति उतनी ही कम होती चली जाती है। यद्यपि हम ध्यान में पूर्ण चैतन्य रहते हैं फिर भी गहरे ध्यान में हम डेल्टा स्तर पर उतर जाते हैं। मध्यम ध्यान की स्थिति में अल्फा अवस्था में रहते हैं।

मानव–मानव के बीच कोई ऐसी प्रक्रिया अवश्य काम कर रही है जिसके द्वारा सूचनाओं का सूक्ष्म स्तर का आदान–प्रदान संभव हो जाता है। इन्हें टेलीपैथी, थॉट ट्रांसफर एवं थॉट रीडिंग आदि कहा जाता है। ऐसे व्यक्तियों के मस्तिष्क से अल्फा तरंगे निकलती हैं। अल्बर्ट आइन्सटीन के मस्तिष्क से अनवरत अल्फा तरंगे निकलती थी। अधिकांश समस्याओं का हल उनके दिमाग में अकस्मात आते थे। उनका कहना था कि सापेक्षवाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त भी ऐसी ही एक चिन्तन प्रक्रिया के दौरान उनके मस्तिष्क में अनायास कौंधा था। स्पष्ट है आइन्सटीन का मस्तिष्क सदा संवेदनशील अनुकूल रिसेप्टर की दशा मे बना रहता था। संभव है उनकी यह स्थिति आइडियोस्फीयर की उच्चस्तरीय विचारणाओं की आवृति से ट्यूनड हो, जिसके कारण हर वक्त उन्हे वहाँ से मार्गदर्शन मिलता रहता था। यह सब प्राण ऊर्जा के माध्यम से संभव है।

मस्तिष्क में एक विशेष द्रव भरा रहता है जिसे 'सेरिब्रोस्पाइनल फ्ल्युड' कहते हैं। इन फ्ल्युड से संबंधित सोलह भाग हैं। इनमे शरीर को संचालित करने वाले एवं अतीन्द्रिय क्षमताओं से युक्त अनेक केन्द्र हैं। यही सहस्रार का अमृत कलश है। इस अमृत कलश को जागृत कर योगीजन उन्हें अधिक सक्रिय बनाकर असाधारण लाभ प्राप्त करते हैं। इन्हें ही ऋद्धि–सिद्धियाँ कहते हैं। सहस्रार कलश की साधना से योगी का चित स्थिर होकर आत्म भाव मे लीन हो जाता है। तब वह समग्र शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है और भव बंधंन से छुट जाता है। सहस्रार में एक नामा सेकण्ड (10^{-9}) मे सारे ब्रम्हाण्ड को देख लेने, जान लेने तथा उस पर किसी तरह का हस्तक्षेप तक करने की सामर्थ्य है।

न्यूरालॉजी, पैरासाइकोलॉजी, मेटाफिजीक्स विज्ञान अब यह स्वीकार करता है कि मानवी मन विश्व मन का ही एक अंश है और जो कुछ उस विराट ब्रह्माण्ड मे हो रहा है या निकट भविष्य मे होने वाला है उसकी संवेदनाएँ मानवी मन को भी मिल सकती हैं। प्रकृति की ही नही संसार मे घटने वाली प्रत्येक घटना का सूक्ष्म स्वरुप बहुत समय पूर्व ही तैयार हो जाता है तथा सूक्ष्म जगत मे भी बना रहता है। क्रिया मे उतरने के पूर्व मन मस्तिष्क में उस घटना का सूक्ष्म स्वरुप विचारों के रूप में बनता है। विचारों को पढ़ने की क्षमता हो तो यह बताया जा सकता है कि अमुक

व्यक्ति भविष्य में किस प्रकार का आचरण करने वाला है। इसी तरह इन्द्रियातीत सूक्ष्म जगत में तारतम्य स्थापित कर सकना सम्भव हो तो भविष्य में घटने वाली प्रत्येक घटना का पूर्वज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव है।

अब वैज्ञानिक यह मानने लगे हैं कि मस्तिष्क आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड से प्रभावित है। मस्तिष्क के इस भाग को अवचेतन मन कहते हैं और वह जिन स्नायुओं से शेष शरीर के साथ संबंध स्थापित करता हैं उन्हें सेरीब्रोस्पाइनल कहते हैं। यह जिन कोशों से बना है, वह रेशों के पुरकुंज ही जान पड़ते हैं, वहीं शरीर की तन्मात्राएँ ग्रहण करते हैं और सुषुम्ना प्रवाह से लेकर रीढ़ की हड्डी के सारे भाग में छाए रहते हैं। ह्रदय स्थित मन से यह संबंध स्थापित कर उसे शक्ति देते हैं, यदि मन को विकसित कर दिया जाय और सुषुम्ना प्रवाह में निवास करने वाली इन शक्ति धाराओं को ऊर्ध्वगामी बना लिया जाय तो मनुष्य आकाश स्थित अदृश्य शक्तियों की महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक जानकारियां और रहस्य प्राप्त कर सकता है। देवताओं का संबंध भी सेरीब्रेस्पाइनल प्रणाली से है, इसे ही "विहति द्वार" कह सकते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि शरीर में जो ह्रदय प्रदेश है उसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ हैं, उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक–एक सौ शाखा – नाड़ियाँ हैं और प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर–बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीर में कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं जिनमें व्यानवायु विचरण करता है। इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों से भिन्न एक नाड़ी और है जिसको सुषुम्ना कहते हैं। उसके द्वारा उदान वायु शरीर में उपर की ओर विचरण करता है। मृत्यु होने पर वह उदानवायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियो के सहित वर्तमान शरीर से निकल कर अन्य योनि में प्रवेश करता है।

सुषुम्ना को वैज्ञानिक स्थायी विद्युतीय द्विध्रुव केन्द्र (परमानेन्ट इलेक्ट्रिक डायपोल) मानते हैं, इसका निचला भाग जो मूलाधार चक्र में अवस्थित है (काँवा इक्वाइना) ऋण विद्युत आवेश युक्त तथा उपरी सिरा सहस्रार (सेरिब्रम) धन विद्युत धारी है। असामान्य स्थिति में यह प्रवाह नीचे से प्रबल होकर उपर की ओर उर्ध्वगमन करता बह सकता है व मस्तिष्क को सतत जागृत व अति सामर्थ्यवान बनाये रख सकता है। वैसे सामान्य जीवधारियों में इसका प्रवाह उपर से नीचे होता है। मात्र मनुष्य को यह सुविधा प्राप्त है कि वह लोअर पोल को सशक्त बनाकर प्रवाह को उर्ध्वगमन करा सके।

सुषुम्ना नाड़ी (स्पाइनल कोर्ड) शरीर की सबसे सामर्थ्यवान विद्युत सम्पदा से भरी संरचना है जो मस्तिष्क के स्नायु प्रवाह को अंग–प्रत्यंग तक एवं ज्ञान तन्तुओ

से मस्तिष्क तक वांछित सन्देश पहुँचाने का कार्य एक सैकण्ड के हजारवें भाग में करती है। इस नाड़ी की संरचना कोलेजन ऊत्तकों से हुई है जो कि धनीभूत प्रोटीन अणुओं का समुच्चय हैं ।स्नायु रचना की दृष्टि से सुषुम्ना यहाँ एक जालीनुमा गुच्छक बनाती हुई मस्तिष्कीय परतों में अण्डाकार वृत रूप में रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम के नाम से फैल जाती है। सारी विद्युत सम्पदा यहीं धनीभूत रहती है। अधिक गहरे में होने एवं अति सूक्ष्म स्थिति मे होने के कारण तथा इनके आवेशों के परस्पर निरस्तीकरण (नलीफिकेशन) की वजह से इलेक्ट्रो एनसेफेलोग्राफी जैसे यंत्रों से इन विद्युत तरंगों को सही अवस्था में मापा जाना असंभव है। यही कारण है कि ई.ई.जी. को मस्तिष्क का तेरह प्रतिशत प्रतिनिधि करने वाला मापन मात्र माना जाता है। योग साहित्य में इस सारे विद्युत मंडल तथा "पिनीयल, हाइपोथेलेमस, पीटुटरी" रूपी स्नायुधारा व रस स्रावों के समुच्चय को सहस्रार चक्र की उपमा दी गई है, जहाँ पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की ही तरह सूक्ष्म जगत से अनुदान बरसते हैं। चेतन सत्ता का पारस्परिक आदान–प्रदान इसी ध्रुव के माध्यम से होता बताया गया है। देवाराधना द्वारा वस्तुतः प्रामाणिकता सिद्ध कर जीव सत्ता ब्राह्मी चेतना से अपने अनुदान इसी उतरी ध्रुव से ग्रहण करती एवं सामर्थ्यनुसार उन्हे पचाती और शेष को दक्षिणी ध्रुव अर्थात् मूलाधार से निष्कासित करती रहती है।

मस्तिष्क के मध्य भाग से प्रकाशकणों का एक फब्बारा – सा फूटता रहता हैं। उसकी उछलती हुई तरंगे एक वृत बनाती हैं और फिर अपने मूल उद्गम में लौट आती हैं। यह रेडियो प्रसारण और संग्रहण जैसी प्रक्रिया है। ब्रह्मरंध्र से छूटने वाली ऊर्जा अपने भीतर छिपी हुई भाव स्थिति को विश्व ब्रह्माण्ड में इथर कंपनों द्वारा प्रवाहित करती रहती है। इस प्रकार मनुष्य अपनी चेतना का परिचय और प्रभाव समस्त संसार में फेंकता रहता है। फुहारे की लौटती हुई धाराएँ अपने साथ विश्व व्यापी असीम ज्ञान की नवीनतम घटनात्मक तथा भावनात्मक जानकारियां लेकर लौटती हैं। यदि उन्हे ठीक तरह समझा जा सके, ग्रहण किया जा सके तो कोई भी व्यक्ति भूतकालीन, और वर्तमान काल की अत्यंत सुविस्तृत और महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति में प्रवाह ग्रहण करने की और प्रसारित करने की जो क्षमता है, उसका माध्यम यह ब्रह्मरंध्र अवस्थित ध्रुव संस्थान ही है। पृथ्वी पर अन्य ग्रहों का प्रचुर अनुदान आता है तथा उसकी विशेषताएँ अन्यत्र चली जाती हैं। यह आदान–प्रदान का कार्य ध्रुव केन्द्रों द्वारा सम्पन्न होता है।

7.2 स्वप्न

प्राचीन काल से स्वप्न अध्यात्म जगत के भाग रहे हैं। यह माना जाता रहा हैं कि देव और ईश्वर मनुष्य को स्वप्न में आकार संदेश देते हैं। ऐसा भी होता हैं कि जब व्यक्ति जागरूक अवस्था में कुछ विशेष दृश्य देखता है तो उसको स्वप्न में कुछ अद्‌भुत अनुभव होते हैं। जैसे कि स्वयं का विराट रूप, अपने अहंकार या अस्तित्व का लोप हो जाना, समयातीत अनुभूति कुछ नये ज्ञान का संचार होना, किसी देव या देवी से साक्षात्कार, स्वयं का खो जाना, स्वयं का एकदम रोगमुक्त हो जाना, आदि।

निद्रावस्था के वैज्ञानिक अन्वेषण यह बताते हैं कि स्वप्न में हमारे मस्तिष्क में क्या क्या क्रिया होती है। इस विषय पर सबसे महत्वपूर्ण खोज यह है कि स्वप्न में हमारी आंखों की पुतलियां तेजी से घूमती हैं जिसे रेपिड आई मूवमेन्ट 'रेम' कहा गया है। यह पाया गया हैं कि रेम निद्रा में हमारे मस्तिष्क के कॉरटेक्स भागों में आपस में संचार होता है। इसी सूचना आदान–प्रदान को वैज्ञानिक भाषा में स्वप्न कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक निद्रावस्था में मस्तिष्क में रक्त प्रवाह मापने के लिए पॉजीट्रान एमीशन टोमोग्राफी (पेट) तकनीक का उपयोग कर यह पता लगाते हैं कि मस्तिष्क का कौन सा भाग अधिक सक्रिय है। गहन निद्रावस्था में मस्तिष्क के रेटिक्यूलर एक्टिवेटिंग सिस्टम और मोटर क्षेत्र काम करना बन्द कर देते हैं, वे क्षेत्र जो स्मृति के पुष्टिकरण और पुनर्जागरण से संबंधित हैं खुले रहते हैं परन्तु उनसे सूचना लाने जे जाने वाले मार्ग बन्द हो जाते हैं। इंद्रिय संवेदना क्षेत्र और इंद्रिय सूचना पर कार्य करने वाले क्षेत्र भी बन्द हो जाते हैं।

रेम अवस्था, जिसमें अधिकतर स्वप्न आते हैं, में विभिन्न अंग अवयवों में गतिविधि बढ़ जाती है। ऊत्तकों की गति, श्वास गति और ह्रदय गति बढ़ जाती है। हमारे भाव संवेदना क्षेत्र, स्मृति और इंद्रिय संवेदना क्षेत्र, विशेषकर दृष्टि और श्रवण संबंधी क्षेत्र, सक्रिय हो जाते हैं। रेम अवस्था में हमारा मस्तिष्क दृश्य सूचनाओं का एकीकरण करने लगता है और हम स्वप्न के दृश्य देखने लग जाते हैं।

स्वप्नावस्था में प्रिफ्रन्टल कॉरटेक्स लगभग निष्क्रिय हो जाता है, इसके चार में से केवल एक भाग ही सक्रिय रहता है। परन्तु भाव संवेदना और स्मृति सूचना पर काम करने वाले मस्तिष्कीय क्षेत्र बहुत सक्रिय हो जाते हैं और इसीलिए स्वप्न में निषेधात्मक क्रियाओं एवं संवेदनाओं का बाहुल्य रहता है।

मस्तिष्क वैज्ञानिकों ने यह जानकारी एकत्रित कर ली है कि विभिन्न प्रकार के स्वप्न कैसे आते हैं। इसके आधार पर जापान में एक ऐसा उपकरण भी विकसित

किया गया है जिससे व्यक्ति कई प्रकार के पहले से प्रोग्राम किए हुए स्वप्न देख सकता है। यह उपकरण बड़े मोबाइल फोन के आकार का है और सोते समय बिस्तर के पास रख दिया जाता है। यह विशेष श्वेत प्रकाश के साथ बहुत निम्न आवृति का संगीत बजाता है और माहोल के अनुसार गंध भी छोड़ता है।

7.3 मस्तिष्क पर विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव

सन् 1934 में डॉ. वाइल्डर पेनफील्ड अपने रोगियों के मस्तिष्क की सरजरी कर रहे थे। जब रोगी के टेम्पोरल लोब को बिजली से उत्तेजित किया गया तो रोगी ने बताया कि उसको अपने जीवन के पूर्व अनुभवों की स्मृति हो आई हैं। डॉ. पेनफील्ड ने और ऐसे प्रयोग किये तो पाया कि रोगी को भय, अकेलापन, दुःख, आतंक आदि की अनुभूति भी होती है। कुछ रोगियों को अनुभूति हुई कि जैसे वे अपने शरीर से बाहर चले गए हैं। डॉ. पेनाफील्ड का विचार था कि ऐसे प्रयोगों में रोगी की पूर्व स्मृति जागृत हो जाती है और उसे भांति–भांति के अनुभव होते हैं। इस घटना के लगभग 50 वर्ष बाद लोरेन्सियन विश्वविद्यालय ओन्टारियों के न्यूरो मनौवैज्ञानिक डॉ. माइकल ए. परसींगर ने इस कार्य में फिर रूचि दिखाई। उन्होने हेलमेट जैसा एक उपकरण बनाया जिसमें सोलेनायड़ के रूप में विद्युत चुम्बक लगे हुए थे। इस उपकरण से रोगी के मस्तिष्क के किसी भी भाग में विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा पहुँचाई जा सकती थी। डॉ. परसींगर के रोगियों को भी उसी प्रकार की अनुभूति हुई जैसे कि डॉ. पेनफील्ड के रोगियों को हुई थी। डॉ. परसींगर का हेलमेट उपकरण अधिक उन्नत किस्म का था। उसमें विद्युत चुम्बकीय पल्स की आवृति और तीव्रता को बदला जा सकता था। इस तकनीक को ट्रांसक्रेनियल मेग्नेटिक स्टीमुलेशन (TMS) कहा जाता है। इसमें चुंबकीय आवेग मस्तिष्क के टेम्पोरल लोब में प्रवेश करके वहाँ उपस्थित विद्युत क्षेत्र से क्रिया करते हैं। इस क्रिया से एक नये प्रकार का विद्युत चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है जो व्यक्ति को बिल्कुल नई अनुभूति करवाता है। डॉ. परसींगर ने लगभग एक हजार लोगों पर प्रयोग करके कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होने पाया कि व्यक्ति को जो अनुभव होता है वह उनको अपने धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश में देखता है। जो भी उन्हें प्रयोग के दौरान दिखाई देता है उसे अपने परिवेश के अनुसार जीसस, विरजीन मेरी, मोहम्मद, आकाशीय देवता आदि से संबद्ध करता है। कोई दिखाई देने वाली आकृति को अपने पूर्वज बताता है और कोई उड़न तश्तरी की तरह अन्य ग्रहों के लोग बताता है।

डॉ. परसींगर ने पाया मस्तिष्क के अलग–अलग केन्द्र को उत्तेजित करने

से व्यक्ति को अलग–अलग प्रकार की अनुभूति होती है। मस्तिष्क के एमिगदला भाग को उतेजित करने से व्यक्ति की यौन भावना प्रबल हो जाती है। जब टेम्पोरल लोब के दायें अर्द्धगोलार्द्ध को उत्तेजित किया जाता है तो व्यक्ति को अपने बांयी तरफ किसी असुर किस्म के लोगों की उपस्थिति की नकारात्मक अनुभूति होती है। जब बायें अर्द्धगोलार्द्ध को उत्तेजित किया जाता है तो व्यक्ति को सकारात्मक अनुभूति होती है और उसे देव या भगवान के दर्शन होते हैं। मस्तिष्क के हिपोकेम्पस भाग को उत्तेजित करने पर व्यक्ति को उच्च आनन्द की अनुभूति होती है। डॉ. परसींगर के प्रयोगो मे किसी भी रोगी ने हानिकारक प्रभाव की शिकायत नहीं की ।

डॉ. परसींगर का कहना हैं कि मनुष्य के दिव्य अनुभव उसके मस्तिष्क की उपज है। सामान्यतया दिव्य अनुभवों में व्यक्ति को कुछ नया ज्ञान होता है, नये विचार आते है, अन्तर्आत्मा की आवाज सुनाई देती है, विश्वएकता का अनुभव या, आकाश गमन का अनुभव आदि होता है। जब ऐसी घटनाएँ जल्दी–जल्दी होती हैं तो व्यक्ति मान लेता है कि भगवान उसके माध्यम से सच या ज्ञान प्रकट कर रहे हैं। वास्तव में ये सभी अनुभव मस्तिष्क की विशेष अवस्था के कारण ही होते हैं। ऐसे व्यक्ति को या तो कोई सुन्दर दृश्य दिखाई देता है या किसी प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं। ये प्राणी कभी–कभी मनुष्य जाति के नहीं होते हैं और दूसरे छोटे प्राणी, दिव्य पुरूष या चमकीले स्वरूप वाले होते हैं। मस्तिष्क की अवस्था के अनुरूप इन सबकी अनुभूति व्यक्ति को आवाज, गंध, दृश्य, या केवल भावना के रूप में हो सकती है। ऐसे अनुभव वास्तविक भी हो सकते हैं। या कल्पना और वास्तविकता के मिले–जुले रूप में हो सकते हैं। कभी–कभी ये घटनाएं आकाश में या भूत भविष्य में होती दिखाई देती हैं और कभी–कभी वास्तविक सांसारिक रूप में प्रतीत होती हैं। जैसा भी हो, व्यक्ति को अनुभूति वास्तविक होती हैं।

डॉ. परसींगर के अनुसार टेम्पोरल लोब की स्थिरता अव्यवस्थित हो जाने के कई कारण हो सकते हैं। जैसे कि जन्म के समय शिशु को चोट, बचपन में कोई दुर्घटना, भयंकर बीमारी, हारमोन की गड़बड़ी, मस्तिष्क में गांठ बन जाना आदि। उनके अनुसार मस्तिष्क की ऐसी परिस्थितियों के बहुत खतरनाक परिणाम हो सकते हैं, लोग स्वभाव से ही आतंकवादी हो सकते हैं। उन्होनें अपने विद्यार्थियों से प्रश्न किया "यदि आपको भगवान कहें तो क्या आप दूसरों को मार देंगें?" सात प्रतिशत विद्यार्थियों ने 'हाँ' में जवाब दिया। ये वे विद्यार्थी थे जो अपने आपको धार्मिक मानते थे और धार्मिक कार्यक्रमों में नियमित रूप से भाग लेते थे। ऐसे कल्ट वाले लोग समाज में कैसा विनाश कर सकते हैं यह किसी से छिपा नही हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट करनी है कि जो अनुभव ऊपर बताए गये है वे प्रयोग के समय ही होते हैं। सिर पर से हेलमेट हटा लेने के बाद व्यक्ति पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है। दूसरा यह कि यह आवश्यक नहीं कि ऐसे अनुभव सभी व्यक्तियों को हों। कुछ लोग जो प्रबल मनोवृति के हैं वे ऐसे अनुभव नहीं करते। ऐसे पचास प्रकार के लोगों की पहचान की गई है जिन्हें ये अनुभव आसानी से हो जाते हैं। परन्तु यह भी देखा गया है कि यदि हेलमेट चिकित्सा लम्बे समय के लिए की जाय तो व्यक्ति में आध्यात्मिक वृति पनपने लगती है।

डॉ. परसिंगर के सहयोगी डॉ. टोड़ मरफी ने डॉ. परसिंगर के अनुसंधानों की विस्तृत व्याख्या की है। इन अनुसंधानों का जो निष्कर्ष निकल रहा है उसके अनुसार यह सत्य लगता है कि जब व्यक्ति भगवान से साक्षात्कार करता है तो वह स्वयं अपनी आत्मा के ही दर्शन करता है। यह 'स्वयं' अब विज्ञान का विषय बन गया है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि जब मस्तिष्क में गड़बड़ी हो जाती है तब व्यक्ति कहता हैं कि उसने भगवान के दर्शन किए और दूसरा, मस्तिष्कीय क्रियाओं से व्यक्ति को 'स्वयं' की अनुभूति होती है। इन दोनों ही अवस्था में यह प्रकरण टेम्पोरल लोब के मध्य और नीचले भाग में स्थित एमिगडला और हिपोकेम्पस रचनाओं से संबंध रखता हैं जो आसानी से क्रियाशील बनाए जा सकते हैं। ये दोनो रचनायें मस्तिष्क के दोनों तरफ होती हैं। हमारे भी दो 'स्वयं' हैं एक बायें भाग में और दूसरा दायें भाग में। ये दोनो बराबर नहीं हैं। अधिकतर लोगों में बांया 'स्वयं' प्रधानता से रहता है, इसी भाग में भाषा होती है। बचपन में जब से हम बोलना शुरू करते हैं यह बांया 'स्वयं' प्रबल हो जाता है। फिर उम्र भर यही स्थिति बनी रहती है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क के दायें और बांये भाग में क्रिया एक दूसरे की उल्टी होती है, अतः हमारे दायें भाग वाला 'स्वयं' अभाषा वाला है। सामान्यतया हमारे दोनों 'स्वयं' एक साथ काम करते हैं। बांया 'स्वयं' नियंत्रण अवस्था में रहता है परन्तु निरंतर दायें 'स्वयं' से संबंध बनाए रखता है। पर कभी–कभी दोनों अलग हो जाते हैं तो फिर बांया 'स्वयं' ही अकेला निर्णय लेता है। इस अवस्था में दायां 'स्वयं' शरीर से बाहर हो जाता है और बांया 'स्वयं' उसे देख सकता है। इस दशा का अनुभव भिन्न–भिन्न लोगों को भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है और एक ही व्यक्ति को अलग–अलग समय पर अलग–अलग प्रकार का अनुभव हो सकता है। इस प्रकार के अनुभव को 'अतिथि अनुभव' कहा गया है। बहुत सूक्ष्म अवस्था में इसकी अनुभूति इस प्रकार होती है जैसे कि हम अकेले नहीं हैं, कोई हमें देख रहा है। लगता है कि कमरे में कोई है परन्तु सिर घुमा कर देखने पर कोई दिखाई नहीं देता। कभी–कभी ऐसा

होता है कि व्यक्ति कोई काम कर रहा है जैसे कि वह लिख रहा है तो उसको अनुभव होता है कि वह स्वयं नहीं लिख रहा है बल्कि कोई ओर लिख रहा है, उसके तो केवल हाथ चल रहे हैं। इस अवस्था में दायें 'स्वयं' ने कार्य अपने हाथ में ले लिया जिसकी उपस्थिति कार्य के होने से अनुभव की जाती है।

इस प्रकार के अनुभवों में दो बाते हैं एक अनुभव शक्ति की तीव्रता और दूसरी अनुभव की भावना। पहले तीव्रता की बात करें। जैसा कि उपर बताया गया है इन अनुभवों में टेम्पोरल लोब के कुछ भाग क्रियाशील रहते हैं। जब इनमें विद्युतीय क्रिया अधिक मात्रा में होती है तो यह क्रिया पास वाले भाग में भी फैल जाती है। तब हमारे अनुभव इस बात पर निर्भर करते हैं कि मस्तिष्क के किस नये भाग में क्रिया प्रारम्भ हुई। यदि यह दृश्य संबंधित भाग में हुई तो हमें कुछ दृश्य दिखाई देते हैं, यदि यह गंध संबंधी भाग में हुई तो हमें कुछ नई गंध का अनुभव होता है। अगर यह क्रिया उस भाग में होती है जहाँ से हम अपने शरीर की ही भीतर से अनुभूति करते हैं तो हम शरीर में कुछ चलता हुआ अनुभव करते हैं या हम अनुभव करते हैं कि हम शरीर से बाहर निकल गये या हवा में उड़ रहे हैं। यदि क्रिया भाषा संबंधी भाग में होती है तो हम कोई आवाज, या संगीत या कोलाहल सुनते हैं। और यदि यह क्रिया लम्बी स्मृति वाले भाग में हुई तो व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि वह किसी से बात कर रहा है, ऐसे में उसकी भावना भी बातों के अनुसार बनती रहती है।

अब अनुभव के दूसरे पक्ष भावना की बात करें। इस प्रकरण में इस आधार पर कि एमिलगदा का कौन सा केन्द्र, बांया या दांया, अधिक सक्रिय है, अनुभव दो प्रकार के ही होते हैं बुरे या अच्छे। दोनो ही दशा में 'अतिथि अनुभव' होते हैं। यदि एमिलगदा का बायां भाग अधिक सक्रिय है तो अतिथि एक राक्षस, शैतान या भूत के रूप में होता है और यदि एमिलगदा का दायाँ भाग अधिक सक्रिय है तो अतिथि एक देवदूत, देव या भगवान के रूप में हो सकता है। भगवान का अनुभव चरम अवस्था में ही होता है।

वैज्ञानिकों ने एक और बात कही है। यदि भगवान' हमारा ही भाग है तो प्रार्थना (या साधना) एक ऐसा माध्यम हो सकता है कि हम स्वयं से बात करके स्वयं को 'अतिथि' बना कर बाहर निकालें। जब हम प्रार्थना (या कीर्तन, भजन, भक्ति) करते हैं तो हम अपना ध्यान सकारात्मक विचार और सकारात्मक भावना मे विभाजित करते हैं। सकारात्मक विचार दायें हिप्पोकेम्पस में रहते हैं और सकारात्मक भावना बायें एमिलगदा में रहती है अतः प्रार्थना हमारे बाँयें और दाँयें मस्तिष्क की क्रियाओं का संतुलन प्रभावित करती है। संतुलन के अधिक मात्रा में प्रभावित होने पर इसकी

संभावना बनती है कि दोनों भागों की क्रिया एक दूसरे से अलग हो जाय और हमें 'अतिथि अनुभव' की अनुभूति हो। यह अनुभूति जब जल्दी–जल्दी होने लग जाती है तो व्यक्ति हर समय परमात्मा की उपस्थिति अनुभव करता है। धीरे–धीरे यह अनुभूति एक उपस्थिति के अनुभव से आगे बढ़ जाती है और परमात्मा एक मार्गदर्शक या वाचिक परामर्शदाता के रूप में अनुभूत होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति परमात्मा के सामने आत्मसमर्पण कर देता है और उसके अहंकार का क्षय हो जाता है। तब व्यक्ति और परमात्मा के बीच सीमा समाप्त हो जाती है और व्यक्ति स्वयं को परमात्मा के रूप में अनुभव करता है।* डॉ. परसिंगर का कहना है कि हमारे 'स्वयं' से अलग कोई परमात्मा नहीं है।

यहाँ विद्वान आयोना मिलर की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण हैं। "मस्तिष्क की संरचना और मानव व्यवहार के बीच संबंध को सही समझना बहुत ही कठिन है और इसको गलत समझना बहुत आसान है। वास्तव में देखा जाय तो चेतनात्मक अनुभव, व्यक्तिगत विचार और धार्मिक अनुभवों को केवल मस्तिष्कीय क्रियाओं की व्याख्या के रूप में रूपान्तिरित नही किया जा सकता है। यह एक रहस्य है कि हमारा मस्तिष्क परमात्म (दिव्य) अनुभव की रचना करता है या परमात्मा (प्रकृति) हमारे मनोशरीर की रचना करता है। व्यक्तिगत विचारों और अनुभवों, जो मापे नहीं जा सकते हैं, का अपना मूल्य है। परन्तु इस बात को नकारा नही जा सकता है कि सृजनात्मकता और निष्ठापूर्वक लगन द्वारा सच्चाई की वैज्ञानिक खोज उतनी ही वास्तविक और महत्वपूर्ण है जितनी अन्य विधियाँ हैं।"

नवीन शोध से पता चला है कि हमारे मस्तिष्क में चुंबकीय (मेगनेटाइड) क्रिस्टल हैं। एक ग्राम मस्तिष्क में 50 लाख चुंबकीय क्रिस्टल पाये गये हैं। मस्तिष्क का औसत भार 1400 ग्राम है और इस प्रकार पूरे मस्तिष्क में लगभग 70 अरब क्रिस्टल हैं। मस्तिष्क को घेरे रहने वाली झिल्ली में भी लगभग एक अरब क्रिस्टल हैं। इन जैव चुंबकीय क्रिस्टल की दो विशेषताएँ हैं। पहली यह कि इनके जैसा आकार प्रकृति में नहीं पाया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि ये क्रिस्टल मस्तिष्क में ही बने हैं। दूसरा, ये क्रिस्टल इस प्रकार व्यवस्थित होते हैं कि इनका चुम्बकीय मोमेन्ट अधिक से अधिक होता है। ये सभी क्रिस्टल साथ में मिल कर एक इकाई की तरह काम करते हैं। मस्तिष्क में एक बहुत अल्प शक्ति वाला चुंबकीय क्षेत्र बनता है जिसे चिकित्सा शास्त्री यंत्रों से माप सकते हैं।

---

* यहाँ भगवान का आशय आत्मा से भी हो सकता है।

7.4 ध्यान का मस्तिष्क पर प्रभाव

पेनसिलवेनिया विश्वविद्यालय के डॉ. न्यूबर्ग और डी एक्वीली ने उच्च तकनीक का प्रयोग करते हुए ध्यानस्थ योगियों की मस्तिष्कीय क्रियाओं का अध्ययन किया। ध्यान से संबंधित मस्तिष्क का जो क्षेत्र है वह सामान्य अवस्था में शरीर की सभी इन्द्रियों से स्नायु तंत्र के माध्यम से निरन्तर सूचनाएं एकत्र करता रहता है और प्रतिक्षण उन्हे प्रोसेस करता रहता है। जितना कार्य और जिस गति से मस्तिष्क यह कार्य करता है उतना एक दर्जन सुपर कम्प्यूटर भी एक साथ मिल कर नहीं कर सकते। प्रयोग में ध्यान प्रारंभ करने से पहले योगी के मस्तिष्क का परीक्षण किया गया और उसके मस्तिष्क के ध्यान क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में गतिविधि देखी गई। ध्यान की अवस्था में क्या अनुभव होता है, इसके बारे में योगी का कहना है कि पहले उसका चेतन मन शांत हो जाता है और अन्तर्मन से सम्पर्क हो जाता है। इस अवस्था में चिंता, भय, इच्छाएं, आशक्ति आदि का लोप हो जाता है। चरम अवस्था में पहुँचने पर वह अनुभव करता है कि उसका कोई पृथक अस्तित्व नहीं है बल्कि वह इस विराट विश्व का एक भाग है। वह समयातीय अवस्था और अनन्तता का अनुभव करता है। वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोग में यह व्यवस्था की कि इस चरम अवस्था में योगी के मस्तिष्क का चित्र लिया जाय। चित्र का परीक्षण करने पर पाया गया कि मस्तिष्क का जो ध्यान केन्द्र ध्यान से पहले गतिविधि से भरपूर था वह अब बिल्कुल शांत हो गया है। वैज्ञानिकों को आश्चर्य हुआ कि मस्तिष्क का यह केन्द्र जो सभी इन्द्रियों से निरन्तर सूचना प्राप्त करता रहता है कैसे शांत हो सकता है। उन्होने अनुमान लगाया कि सम्भवतया ध्यान की इस अवस्था मे इंद्रियों की सूचना मस्तिष्क में नही पहुँचती हैं, रास्ते में ही रोक दी जाती हैं। अर्थात् ध्यान की इस अवस्था में मस्तिष्क के उस केन्द्र का शरीर से सम्पर्क टूट जाता है। ऐसा होने पर मस्तिष्क योगी की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान नही कर सकता और स्वयं तथा बाहरी संसार के बीच सीमारेखा को नही पहचान सकता है। ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क इसका अर्थ यह लगाता है कि स्वयं का अस्तित्व असीम है और वह शेष विश्व के साथ मिला हुआ है। यही अनुभुति योगी को होती है।

वैज्ञानिकों ने कई योगियों पर प्रयोग किए और इसी प्रकार के परिणाम प्राप्त किए। उनका कहना है कि मनुष्य की धार्मिक वृति की जड़ उसके मस्तिष्क में है। परमात्मा का अनुभव कोई भ्रांति या मानसिक परिकल्पना नहीं, यह एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है जिसको प्रयोगशाला में मापा जा सकता है।

7.5 समीक्षा

स्नायुतंत्र हमारे शरीर का सूचनातंत्र है। सूचना का आदान प्रदान न्यूरान कोशिकाएँ विद्युत आवेग के माध्यम से करती हैं। न्यूरान सूचना ग्रहण भी करते हैं और सूचना प्रसारित भी करते हैं। मस्तिष्क और मेरुदण्ड केन्द्रीय स्नायुतंत्र के भाग हैं। पेरीफिरल स्नायुतंत्र केन्द्रीय स्नायुतंत्र और शरीर के बीच सम्पर्क स्थापित करता है। मेरुदण्ड रिफलेक्स एक्सन का कार्य करता है। मस्तिष्क को कई भागों में बाँटा गया है और हरएक भाग के विशिष्ट कार्य हैं। हमारी इन्द्रियों की संवेदना सूचना पहले मस्तिष्क को जाती है और वहाँ से शरीर के अंग अवयवों को निर्देश दिए जाते हैं। मस्तिष्क की रचना इतनी जटिल है कि अभी तक वैज्ञानिक उसके दसवें भाग की जानकारी ही कर पाए है, 90 प्रतिशत भाग अभी भी अज्ञात है। मस्तिष्क की क्षमता असीम सी है, परन्तु सामान्य मनुष्य उस क्षमता का 5–7 प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। 7–8 प्रतिशत उपयोग करने वाला महामानव और 10 प्रतिशत तक उपयोग करने वाला देवता स्तर का व्यक्ति बन जाता है।

मस्तिष्क से निरन्तर विद्युत चुंबकीय तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं जिनकी आवृति व्यक्ति की मनोदशा पर निर्भर करती है। इन तरंगों के माध्यम से व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या अंतरिक्ष से सूचना का आदान प्रदान भी कर सकता है। कुछ विद्वान मानवी मन को विश्व मन का एक अंश मानते हैं और इसलिए व्यक्ति के लिए संसार में घटित हुई या घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी कर लेना संभव है। सूचना का आदान–प्रदान सहस्रार के माध्यम से होता है जहाँ से प्रसारित होने वाली तरंगें वायुमंडल का भ्रमण कर वापस अपने मूल में लौट आती हैं।

स्वप्न एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है और इसका वैज्ञानिकों द्वारा गहन अध्ययन किया गया है। मस्तिष्क वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के स्वप्नों की जानकारी एकत्रित की है और उसके आधार पर एक ऐसी मशीन भी बना ली गयी है जो व्यक्ति को कुछ विशेष प्रकार के स्वप्न दिखा सकती है।

मस्तिष्क का कार्य विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र पर आधारित होने से वैज्ञानिकों ने ऐसे उपायों की खोज कर ली है जिससे मस्तिष्क के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र को प्रभावित करके व्यक्ति को अनेक प्रकार की अनुभुति करायी जा सके। अमेरिका के डॉ. माइकल परसींगर और उनके साथियों ने इस विषय पर विस्तृत खोज की है। उनके प्रयोंगों में मनुष्य को जो अनुभुति होती है उनकी कई प्रकार के दिव्य अनुभव से तुलना की गयी है। शोधकर्ताओं का कहना है योगियों और साधको द्वारा किए गये विभिन्न प्रकार के अनुभव उनके मस्तिष्क की विशिष्ट अवस्था के कारण ही होते हैं।

यह उनका अपना स्वयं का कार्य है और इसके पीछे कोई ईश्वर नाम की या अन्य सत्ता नही है। ये वैज्ञानिक प्रयोग जैन दर्शन की उस मान्यता को ही पुष्ट करते हैं कि विश्व में आत्मसत्ता ही सर्वोपरि है और इसके अतिरिक्त ईश्वर नाम की कोई और सत्ता विद्यमान नही है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के आरोपण से जो कृत्रिम अनुभूति उत्पन्न की गई क्या उससे कर्म सिद्धान्त का उल्लंघन नही हुआ? इस प्रश्न पर विचार करें। अध्याय दो में बताया गया है कि परिस्थिति भी परिवर्तन का कारण हो सकती है। वर्तमान प्रकरण में वैज्ञानिकों ने विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के आरोपण से व्यक्ति की आन्तरिक परिस्थिति में परिवर्तन कर दिया और उसे नई अनुभूति हो गई। ज्योंही यह कृत्रिम परिस्थिति हटा ली गई, व्यक्ति पुनः अपनी पूर्ववत अवस्था में आ गया। यदि व्यक्ति में स्थाई परिवर्तन हो जाता है तो यह समझा जाएगा कि विद्युत चुम्बकीय प्रभाव से उसकी लेश्या में परिवर्तन हुआ और तदनुसार उसके भाव बदल गये। भावों के निमित्त से उसके कर्मोदय हुआ और उसकी स्थिति में परिवर्तन हो गया। इस प्रकार दोनों ही परिस्थिति में कर्म सिद्धान्त अक्षुण रहता है। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि वैज्ञानिकों ने ऐसी परिस्थिति प्रयोगशाला में उत्पन्न कर दी जिससे व्यक्ति के भावों में परिवर्तन होना संभव हो गया। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि प्रयत्न करने पर तो भावों में परिवर्तन संभव ही है और यह नियमानुसार है।

7.6 संदर्भ

1. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
2. भानुमती का जादुई पिटारा मानवी मस्तिष्क पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
3. दिव्य शक्तियों का उद्भव प्राणशक्ति से पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
4. काय ऊर्जा और उसकी चमत्कारी सामर्थ्य पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
5. विभिन्न वेबसाइट्स

अध्याय 8

कोशिका, जीन्स और क्लोनिंग

8.1 कोशिका

एक कोश (सेल) में जीवन के सारे लक्षण अमीबा की तरह विद्यमान रहते हैं। अमीबा एक कोशीय जीव है, उसमें आहार, निद्रा, भय आदि वह सब गुण पाए जाते है, जिनसे किसी पिण्ड में चेतना के अस्तित्व की जानकारी होती है। इसी तरह 'कोश' में मनुष्य के सारे लक्षण विद्यमान रहते हैं। (यह सिद्ध करता है कि हर आत्म प्रदेश पर सभी प्रकार के कर्म रहते हैं)

कोशिकाएं प्रोटोप्लाज्म नामक जीवित पदार्थ से बनी होती हैं। इसके भी साइटोप्लाज्म और नाभिक दो भाग होते हैं। साइटोप्लाज्म अर्ध पारदर्शक जल मिश्रित जेली की तरह का होता है, जिसमें अनेक प्रकार के प्रोटीन, लवण, शर्करा और अन्य वस्तुएं होती है, पर नाभिक के बारे में अभी निश्चित तथ्य नही प्राप्त किए जा सके हैं। इसका संबंध प्राण विद्या से है। जब उससे वैज्ञानिक अनेक जानकारियाँ प्राप्त करेगें तो पूर्व अध्यात्म की और भी विलक्षण पुष्टि होगी।

नाभिक एक तरह का तारा जैसा प्रकाश कण होता है और जीवन की यही अंतिम इकाई है। दूसरे साइटोप्लाज्म में भी सभी प्रोटीन तथा हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, फास्फोरस आदि तत्व पाए जाते हैं, यह तभी तक क्रियाशील रहते हैं जब तक नाभिक बना रहता है। नाभिक के निकलते ही यह पदार्थ वाला अंश मृत हो जाता है, निष्क्रिय हो जाता है। यद्यपि इस नाभिक को वैज्ञानिक स्वतंत्र स्थिति में प्रकट नही कर सके हैं पर यह न्युक्लिक एसिड से बना है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान, विचार या अंतर्चेतना प्रकाश कणों का गुण है (जो नाभिक में ही पाया जाता है)।

एक स्वस्थ मानव शरीर में लगभग 600 खरब कोशिकाएं होती हैं। प्रत्येक नाभिक में गुणसुत्र (क्रोमोसोम) और प्रत्येक गुणसुत्र के भीतर एक बटी हुई रस्सी की सीढी के समान संस्कार कोश (जीन्स) विद्यमान होते है, यह संस्कार कोश जो प्रकाश की भी सूक्ष्म अवस्था है, न्युक्लिक एसिड कहलाते हैं। यह एक प्रकार की विद्युत चुम्बकीय शक्ति है और कोश के भीतर सारे स्थूल द्रव्य में तिल में तेल के समान व्याप्त है, इसलिए वैज्ञानिकों को उसके स्वतंत्र होने पर भी एसिड होने का भ्रम रहता है। अब यह विश्वास किया जा रहा है कि प्रत्येक प्राणी की कोशिकाओं का विश्लेषण कर लिया जाए और मानव शरीर में उनकी समीक्षा की जाए तो जिस जाति की कोशिकाएं बहुतायत से पायी जा रही होगीं, पूर्व जन्म उसी से संबंधित रहा होगा।

पर एक बात यहाँ अभी सिद्ध हो गयी कि आहार क्रम को बदलकर कोशिकाओं को बदला जा सकता है। भले ही यह क्रम मंदगामी हो, पर यदि एक ही प्रकार के पदार्थ खाने में लिए जाए तो उसी प्रकार की कोशिकाओं को विकसित और सतेज कर विषाणुओं और दुर्लभ और अधोगामी योनियों में पायी जाने वाली कोशिकाओं को हटाया और कम किया जा सकता है। इसका प्रभाव यह होता है कि मनुष्य में जो पाशविक वृतियाँ होती है, वह इन कोशिकाओं की मंद, अशुद्ध और जटिल स्थिति के कारण होती हैं, उन्हें बदलकर शुद्ध, सात्विक बनाया जा सकता है। अस्वाद व्रत और उपवास का महत्व इस जानकारी के आधार पर और भी बहुत अधिक बढ जायेगा।

यदि कोशिका को काटकर नाभिक से अलग कर दिया जाए तो कोशिका की मृत्यु हो जाएगी, पर नाभिक में स्वतः निर्माण की क्षमता होती है। हमारा आध्यात्मिक दर्शन यह कहता है कि उस नाभिक में इच्छा, आशा, संकल्प और वासना का अंश रहता है, उसी के अनुरुप वह दूसरा जन्म ग्रहण करता है। कोशिकाओं में पाए जाने वाले क्रोमोसोम्स के क्रिया कलाप के विषय में अभी ठीक–ठीक जानकारी नहीं मिल सकी है। प्रत्येक प्राणी में क्रोमोसोम की संख्या अलग अलग होती है। गेहूँ में 42, मनुष्य शरीर की कोशिकाओं में 46 और किन्ही किन्ही जीवों की कोशिकाओं में 100–100 तक क्रोमोसोम पाए जाते हैं। इनके अलग अलग रंग भी होते हैं, उन कणों को एलील कहा जाता है। नाभिक क्रोमोसोम के माध्यम से साइटोप्लाज्म को भी गतिशील रखता है। जब इन सबकी विस्तृत खोज होगी तो अनुमान है मन, बुद्धि, चित, अहंकार आदि सूक्ष्म तत्वों की और भी विषद् जानकारी होगी।

मृत्यु होने पर अनेकों कोश ही प्रकाश कणों का एक स्वतंत्र शरीर बनाए हुए निकल जाते हैं, उनमें यह सारी याददाश्ते बनी रहती हैं, जो जीवित अवस्था में ज्ञान में आयी थीं। इतना ही नहीं इस अवस्था में भी वह ज्ञान संपादन की क्षमता से परिपूर्ण होता है, केवल स्थूल क्रियाएँ जैसे बोलना, पकड़ना, उठना, बैठना आदि उससे नहीं हो सकता, यह किसी विशेष अवस्था में ही संभव है।मनुष्य शरीर की 600 खरब कोशिकाओं को खींचकर लम्बाई में बढाया जाए तो वह सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड को माप लेगें। यह कोशिकाएं शरीर के विभिन्न अंगों में विभिन्न गुणों वाली होती हैं, उसकी जानकारी करने पर शरीर द्वारा शरीर की ही चिकित्सा कर लेना भी संभव हो जाएगा और अधिक भीतरी मर्मस्थलों की खोज हुई तो मनुष्य यंत्रों के द्वारा अनेक ऐसी शक्तियाँ प्राप्त कर लेगा, जिनकी संभावनायें तंत्र विज्ञान से संबंध रखती हैं। इनमें अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ भी सम्मिलित होगीं। कोशिकाओं के भाग कोशिकावरण, प्लास्टेड, वैकुओल, एंडोप्लज्मिक, रेंटिकुलम, सेट्रिंयोल और माइट्रोकोंड्रिया

आदि की विस्तृत जानकारी होगी तो ब्रम्हाण्ड के अनेक रहस्यों का पता शरीर में ही लग जाया करेगा। इन सबने शरीर में नहरों और नदियों का सा जाल बिछा रखा है। एक बिन्दु में मनुष्य के लाल रक्त की लगभग 5000 कोशिकाएं समा सकती हैं।

नाभिक आकाश तत्व में स्थित है, अर्थात वह किसी भी तत्व पर टिका हुआ नहीं है, जबकी कोशिका झिल्ली के अंदर गति करने वाले सभी पदार्थ परस्पर संबद्ध होते हैं। वैज्ञानिक यह मानते हैं, कोशिका के आकाश में स्थित जगत के संपूर्ण अध्ययन के लिए 335 वर्ष की अवधि भी बहुत अल्प है।

हमारे शरीर की कोशिकाओं में पाए जाने वाले क्रोमोसोम और माइट्रोकोन्ड्रिया के कण के ऊपर एक असंचालक परत होती है और कण के अन्दर विद्युत चालक द्रव्य होता है। यह द्रव्य सूक्ष्म स्तर के ओसीलेटिंग सरकिट बनाता है जिनमें विस्तृत रेन्ज में अति अल्प तरंग दैर्ध्य वाले विद्युत ओसीलेसन संभव हैं। ये द्रव्य कण पृथ्वी, वातावरण व अंतरिक्ष से आने वाली विद्युत चुम्बकीय तरंगों से तरंगित होते हैं। इन द्रव्य कणों के कम्पन बहुत से आंतरिक और बाहरी कारणों से प्रभावित होते हैं। जैसे पृथ्वी, वातावरण और अंतरिक्ष से आने वाले उत्सर्जन में परिवर्तन या कोशिका पर किसी प्रकार आघात या द्रव्य कणों के घटक लवणों में परिवर्तन आदि। शोध से पाया गया है कि बाहर से आने वाले उत्सर्जन विषैले भी हो सकते हैं विशेष तौर से वे जो पृथ्वी से आते हैं। विषैले उत्सर्जन कैन्सर पैदा करते हुए भी पाए गये हैं। कभी कभी ऐसे प्रभाव में कोशिका के कंपन बंद हो जाते हैं और कोशिका मर भी सकती है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। मृत कोशिका में भी माइट्रोकोन्ड्रिया में विद्युत कम्पन चालू रह सकते हैं और वे कोशिका की तरह विभाजित होकर जीवित रह सकते हैं। यह नही सोचना चाहिए कि हारमोन या जीन्स ही रहस्यमयी क्षमताओं से सुसंपन्न हैं। सच तो यह है कि पूरी काया ही तिलस्मी रहस्यों से भरी हुई पूरी है। दुर्भाग्य यही है कि हम न तो उसकी सामर्थ्य को समझ पाते हैं और न उसके सदुपयोग का साहस जुटाते हैं।

8.2 जीन्स

अभी तक के अध्ययन के आधार पर माना जाता है कि जीन्स की रचना कई तरह के न्युक्लिक अम्लों के संयोग से हुई है। उनमें से अभी केवल दो के बारे में जाना जा सका है। वे हैं– (1) डी. एन. ए. (डी आक्सी राइबो न्यूक्लिक एसिड), (2) आर. एन. ए. (राइबो न्यूक्लिक एसिड)। शरीर के अंग प्रत्यंग की विशिष्ट रचना से लेकर अनेक परम्परागत स्वभावों, रोगों तथा गुणों के विकास की आश्चर्यजनक

क्षमता इनमें हैं। ये मनुष्य के आसपास के वातावरण से लेकर मनुष्य के विचारों और भावनात्मक विशेषताओं के संस्कार ग्रहण करने में समर्थ हैं।

कोशिका के कार्य के लिए सभी निर्देश उसी में पाए जाने वाले रसायन डी. एन.ए. में निहित होते हैं। सभी प्राणियों के डी.एन.ए. में वही रसायन होता है। डी. एन.ए. एक पोलीमर है जिसकी मोनोमर इकाई को न्यूक्लोटाइड्स कहते हैं। डी.एन. ए. में चार प्रकार के न्यूक्लोटाइड बेस होते हैं– एडेनीन (A), गुअनिन (G), साइटोसीन (C) और थाइमीन (T)। एक डी.एन.ए. परमाणु में ये बेस डी.एन.ए. स्ट्रेन्ड के सहारे एक निश्चित तरीके और क्रम से आसपास जमा होते हैं जैसे ATTCCGGA, आदि। डी.एन.ए. का यह क्रम किसी भी गुण वाले जीव की रचना के लिए सही निर्देश प्रदान करता है।

किसी भी जीव के डी.एन.ए. के पूर्ण सेट को जीनोम कहते हैं। एक जीनोम में लाखों करोडों बार डी.एन.ए. युग्म की पुनरावृति होती है। ये एक घुमावदार सीढी के रुप में क्रम से व्यवस्थित होते हैं। जीवों में जीनोम का आकार भिन्न भिन्न होता है। सबसे छोटा जीनोम विषाणु में पाया जाता है और इसमें छः लाख डी.एन.ए. बेस युग्म होते हैं। मानव और चूहों के जीनोम एक जैसे होते हैं और उनमे 30 करोड डी. एन.ए. युग्म होते हैं। लाल रक्त कणों के अतिरिक्त मनुष्य की सभी कोशिकाओं में जीनोम पूर्ण होता है। सभी लोगों में 99.9 प्रतिशत डी.एन.ए. बेस समान होते हैं।

मनुष्य के जीनोम में 23 प्रकार के क्रोमोसोम होते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम एक पृथक अणु होता है जिसमें 5 करोड से लेकर 25 करोड तक बेस युग्म हो सकते हैं। एक क्रोमोसोम में कई जीन्स होते हैं। जीन एक विशेष क्रम में व्यवस्थित बेस युग्म का बना होता है और इसमें शरीर के लिए आवश्यक सभी प्रोटीन बनाने के निर्देश होते हैं। मानव जीनोम में 30000 से 35000 जीन होते हैं। एक जीन में औसतन 3000 बेस युग्म होते हैं। जीनोम का लगभग दो प्रतिशत भाग ही जीन का होता है, शेष भाग क्रोमोसोम की संरचना को मजबुती प्रदान करता है और यह नियंत्रण करता है कि कब और कितना प्रोटीन बनाना है। प्रोटीन एमीनो एसिड से बने होते हैं जो कुल 20 प्रकार के होते हैं।

डी.एन.ए. में बेस युग्म का क्रम बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसी क्रम की भिन्नता से जीव की भिन्नता प्राप्त होती है। भिन्न भिन्न प्राणियों में यह क्रम भिन्न भिन्न होता है और हर प्राणी का अपना जीनोम होता है। किसी एक जीव में भी डी. एन.ए. क्रम में परिवर्तन होता है और यह उसके स्वास्थ्य की स्थिति पर निर्भर करता है। डी.एन.ए. क्रम का अध्ययन करने पर यह पता लगाया जा सकता है कि व्यक्ति

को कौनसी बीमारी है। डी.एन.ए. क्रम में आवश्यक परिवर्तन करके रुग्ण व्यक्ति को स्वस्थ भी किया जाना संभव है और इस विषय पर अब बहुत शोध कार्य हो रहा है।

माँ बाप के गुण अपनी संतानों में जीन के माध्यम से जाते हैं। जीव का जन्म माँ के अंडाणु और पिता के शुक्राणु के मिलन से होता है। इन अंडाणु और शुक्राणु में क्रोमोसोम होते हैं। इन क्रोमोसोम में उपस्थित जीन वंशानुगत गुण के वाहक हैं। क्रोमोसोम एक युग्म के रुप में होता हैं। मनुष्य में क्रोमोसोम के 23 युग्म होते हैं उनमें से 22 युग्म ओटोसोम कहलाते हैं और इन युग्म के दोनों सदस्य एक से होते हैं। पुरुष के 23 वाँ युग्म x क्रोमोसोम और y क्रोमोसोम का होता है। स्त्री के 23 वें युग्म में दोनों क्रोमोसोम x होते हैं। x क्रोमोसोम में 2968 जीन होते हैं और y क्रोमोसोम में 231 जीन होते हैं। जीव के लिंग का निर्धारण 23 वें क्रोमोसोम के मिलन के आधार पर होता है। यदि पुरुष का y क्रोमोसोम अंडाणु से मिलता है तो xy युग्म से लड़का होता है और यदि पुरुष का x क्रोमोसोम अंडाणु से मिलता है तो xx युग्म से लडकी होती है। हम मनुष्यों में जीन की दो प्रति होती है, एक प्रति माँ से और दूसरी प्रति पिता से प्राप्त होती है। दोनों प्रति मिलकर एक क्रोमोसोम बनता है। इस प्रकार, संतान को एक एक जीन युग्म माँ और बाप दोनों से मिलता है और इन जीन की शक्ति के अनुसार संतान में माँ या बाप के गुण प्रधानता से आते हैं। यदि किसी स्थिति में ये गुण संतान में प्रकट नहीं भी होते हैं तो भी ये उसमें विद्यमान रहते हैं और आगे की पीढी में प्रकट हो सकते हैं। वैज्ञानिक इस बात का पता लगा रहें है कि किस प्रकार बीमारियाँ या व्यवहारिक दोष एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाते हैं। वे यह भी कोशिश कर रहे हैं कि किस प्रकार जीन में परिवर्तन करके इन बीमारियों और दोषों को आगे की पीढी में जाने से रोका जा सकता है। स्तन केंसर, माँशपेशियों के रोग, बहरापन, अंधापन, हृदय रोग, मधुमेह, केंसर, जोडों के रोग आदि बीमारियों के जीन को पहचान लिया गया है। वैज्ञानिकों का दावा है कि वनस्पति जगत में उन्हें उस दिशा में कुछ सफलता मिली है। पशुओं पर भी कुछ प्रयोग हुए हैं। मानव में ऐसे प्रयोग नैतिकता के दायरे में आते हैं और उन पर शख्त नियंत्रण किया गया है।

सभी सोमेटिक कोशिकाओं में पूर्ण जीनोम विद्यमान रहता है परन्तु प्रत्येक कोशिका में केवल कुछ जीन ही कार्य करते हैं। शरीर के विभिन्न भाग की कोशिकाओं में ये कार्यरत जीन अलग अलग होते हैं और इसी कारण इन कोशिकाओं की प्रवृति अलग अलग होती है। कौन से अंग में कौन कौन जीन कार्य करेगें और कब करेगें यह लाजिक भी जीन के अन्दर ही होता है।

जब बच्चा जन्म लेता है तो भी वह एक डाइपोल मेग्नेट होता है। उस एक कोशीय निषेचित डिम्बाणु के विषय में अमेरिका की येल युनिवर्सिटी के डा. सेक्सटन बर्र ने अपनी पुस्तक 'दी फील्ड्स ऑफ लाइफ' (जॉन विली 1972) में लिखा है कि 'इन कोशों के दोनों ध्रुवों के मध्य विद्युत विभव का जो अन्तर पाया जाता है व जिस कारण यह एक डाइपोल मेग्नेट की भूमिका निभा पाता है, वह अकल्पनीय है। इतना विद्युत विभव इतने सूक्ष्म कण में होना यह बताता है कि काया विद्युत पुंज है एवं भावी जीवन में भी उसकी सारी गतिविधियाँ उसी प्रकार संचालित होती हैं।'

वे आगे लिखते है कि 'शुक्राणु की संरचना में यह ध्रुवीकरण इतना स्पष्ट होता है फिर भी सामान्यतया उसकी और हमारा ध्यान नही जाता। शुक्राणु का सिर एक ध्रुव है जो नाभिक को धारण करता है एवं सूचना केन्द्र है। पूंछ दूसरा ध्रुव है जो सूचना को अपनी ऊर्जा द्वारा गन्तव्य स्थान तक पहुँचाता हैं। सूचना केन्द्र व ऊर्जा स्रोत रुपी ये ध्रुव ही अन्ततः जीव कोश में RNA, DNA का रोल संभाल लेते हैं। भ्रूण विकास की एवं उसके शरीर रुप में विकसित होने की सारी कुंजी सम्भवतः उन विद्युत धाराओं में छिपी पडी है जो निरन्तर विकसित हो रहे भ्रूण में दोनों ध्रुवों के बीच सतत् बहती रहती है।

जीन आनुवंशिकता के वाहक हैं और आनुवंशिकता की बुनियादी इकाई हैं। अभी तक किए गये परीक्षणों से यही जाना जा सका है कि व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएं जैसे रंग, रुप, नैत्र, त्वचा, खून का प्रकार, लंबाई, ठिंगनापन आदि सब आनुवंशिक होते हैं। ये शारीरिक गुण मात्र माता पिता से नहीं प्राप्त होती हैं, वरन ये दादा, परदादा तथा अन्य पूर्वजों से क्रमशः संक्रमित होकर आते हैं। वंशानुगत गुणों में माता पिता का योगदान प्रत्येक गुण में आधा होता है। यानी माँ का एक चौथाई और पिता का एक चौथाई। उनके पूर्व के चार पितरों में प्रत्येक का योगदान प्रत्येक गुण का सोलहवां भाग होता है अर्थात चारों पितरों का कुल योगदान एक चौथाई भाग होता हैं। शेष एक चौथाई और पुरानी पीढ़ियों से आते हैं।

यह स्पष्ट हो गया है कि अपने वातावरण तथा अपनी चेष्टाओं द्वारा व्यक्ति जिन स्वभाव–गुणों को अर्जित करता है, वे वंशानुक्रम से प्राप्त नही होते और न ही कोई व्यक्ति उन अर्जित विशेषताओं को वंशानुक्रम द्वारा अपने बच्चों को प्रदान कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति ने अनेक भाषाएं सीखी है, तो वह उस भाषा ज्ञान को अपने बच्चों को वंशानुक्रम द्वारा नहीं दे सकता। इसलिए आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों को समान महत्व दिया जाता है। आनुवंशिकता द्वारा अर्जित गुण नहीं प्राप्त होते। कुछ जन्मजात गुण वंशानुक्रम के लक्षण माने जाते हैं। जीन का

व्यवहार या आचरण से सीधा संबंध नही होता। जीन शरीर के ऊतक तथा अंगों के विकास को निर्देशित नियंत्रित करता है। शरीर की क्रियाएं स्पष्टतः व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं और उस रुप में जीन्स का संबंध व्यवहार से भी होता है। इसी प्रकार शारीरिक क्रियाओं में भाग लेने वाले हजारों रासायनिक तत्व भी जीन्स द्वारा ही निर्धारित होते हैं। जैसे दृष्टि के लिए प्रकाश संवेदी तत्व एवं रक्त के जमने में कई रासायनिक तत्व। इन तत्वों की उपस्थिति या सशक्तता या दुर्बलता का संबंध जीन्स से ही होता है।

जीन व्यवहार विज्ञान

जीव विज्ञान का वह विषय जो वंशानुगत गुणों का अध्ययन करता है जीनेटिक्स कहलाता है। वह विषय जो इस बात का अध्ययन करता है कि व्यवहार गुण कैसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाते हैं जीन व्यवहार विज्ञान कहलाता है। इस विषय में मनोवैज्ञानिक विशेष रुचि लेते हैं।

प्रयोगों से पाया गया है कि यह कहना कि मनुष्य का व्यवहार केवल जीन से निर्धारित होता है अपूर्ण है। मनुष्य के अनुभव जीन के प्रभाव को बदल भी सकते हैं। प्रयोगों में पाया गया है कि किस प्रकार वातावरण, व्यवहार, चेतना और जीवन जीने का तरीका जीनों के प्रभाव में बदलाव ला सकता है। जागना, सोना, स्वप्न देखना, भावना, प्रोत्साहन, तनाव आदि व्यवहार पर हमारे व्यवहार और जीन दोनों का प्रभाव होता है। नयापन, मूल्यपरक अनुभव, जिज्ञासा परक और आश्चर्य पूर्ण क्रियाएं आदि हमारे जीन निर्धारित व्यवहार को मोड़ कर हमारे मस्तिष्क की संरचना को बदल सकते हैं और यह बदलाव जीवन पर्यन्त काम कर सकता है। कला, संगीत, नृत्य और मानव मूल्यों का हमारे व्यवहार पर प्रभाव होता है। वातावरण, जीन, हमारा स्वभाव और समाज मिल कर हमारा व्यक्तित्व बनाते हैं।

8.3 क्लोनिंग

किसी भी जीव के जीन के आधार पर उसकी कापी बना लेना क्लोनिंग कहलाता है। क्लोनिंग के लिए तीन प्रकार की तकनीक विकसित हुई है।

1). डी.एन.ए. (जीन) क्लोनिंग– इस तकनीक में क्लोनिंग होने वाले जीव के जीन का बेक्टेरियल प्लासमीड जैसे जीव में प्रवेश कराया जाता है। फिर इसकों माँ के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

2). पुनर्उत्पादन क्लोनिंग– इस तकनीक में जीव के वर्तमान या भूतकाल के डी.एन.ए. का प्रयोग कर नये जीव का निर्माण किया जाता है।

3).चिकित्सा क्लोनिंग– इस तकनीक में शोध कार्य में काम लिए जाने वाले एम्ब्रायो की क्लोनिंग की जाती है। इसमें पूरे जीव का क्लोनिंग नहीं करके केवल स्टेम कोशिकाओं का निर्माण किया जाता है जो शोध कार्य और चिकित्सा प्रयोजन हेतु उपयोग में ली जा सकती हैं।

डी.एन.ए. क्लोनिंग तकनीक वनस्पतियों में गुणवत्ता सुधार के लिए काम में ली जा रही है। पुनर्उत्पादन क्लोनिंग तकनीक से पशुओं और मनुष्यों में प्रयोग किए जा रहे हैं। डोली भेड़ का क्लोनिंग इसी तकनीक से किया गया था। इस प्रकार के प्रयोगों में सफलता का प्रतिशत बहुत कम होता है। 276 प्रयोगों के बाद डोली का प्रयोग सफल हुआ था। इस तरह के प्रयोग लुप्त प्रजाति के जीवों को पुनर्जीवित करने में उपयोगी हो सकते हैं। सन् 2001 में पहली बार एक लुप्तप्राय जंगली बैल का क्लोन तैयार किया गया जो बीमारी के कारण 48 घंटे में ही मर गया। सन् 2001 में ही इटली में जंगली भेड का क्लोन बनाया जो अभी जीवित है। अभी तक भेड़, बकरा, गाय, चूहा, सूअर, बिल्ली, खरगोश, जैसे पशुओं के भी क्लोन बना लिए गये हैं। आज सैकडों क्लोन पशु जीवित हैं। बंदर, मुर्गी, घोडा और कुत्तों के क्लोन बनाने के प्रयोग असफल रहे हैं। चिकित्सा क्लोनिंग का उपयोग भविष्य में मानव अंग बनाने में हो सकता है। इससे स्वस्थ कोशिकाएं भी बनाई जा सकेगीं जो रुग्ण कोशिकाओं के बदले में रोपी जा सकें। पर ऐसा करने के पहले बहुत सी चुनौतियाँ अभी सामने हैं। वैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि क्लोनिंग से सूअर बनाए जावें और उनके अंग मनुष्यों में लगाए जावें। इस प्रयोजन हेतु सुअर का चुनाव इसलिए किया गया कि सुअर के ऊत्तक मानव ऊत्तक से मिलते जुलते हैं।

क्लोनिंग करने में बहुत खतरे हैं। आज उपलब्ध तकनीक के अनुसार इसकी सफलता एक प्रतिशत ही आंकी गई है, 99 प्रतिशत प्रयोग असफल हो जाते हैं। यह भी पाया गया है कि क्लोन पशु में रोग निरोधक तंत्र कमजोर होता है और इन पशुओं में इन्फेक्शन, ट्यूमर बनना और दूसरे रोग आसानी से हो जाते हैं। जापानियों ने पाया कि क्लोन चूहे बीमार रहते हैं और जल्दी मर जाते हैं। क्लोन गायों में करीब एक तिहाई जल्दी मर गई और कुछ असामान्य रूप से बड़ी थी। क्लोन पशु अचानक मर सकते हैं। आस्ट्रेलिया में क्लोन भेड़ जिस दिन मरी उस दिन वह बिल्कुल स्वस्थ थी। पोस्टमार्टम में भी उसकी मृत्यु का कोई कारण नहीं मिला। सन् 2002 में अमेरिका के वैज्ञानिकों ने बताया कि क्लोन चूहों के जिनोम हल्की गुणवत्ता वाले हैं। उन्होंने पाया कि 10000 कोशिकाओं के परीक्षण में चार प्रतिशत जीन असामान्य रूप से कार्य कर रहे हैं। क्लोन पशु में इस बात को लेकर भी समस्या

आ सकती है कि उसके निर्माण में केवल एक ही प्रकार के जीन का उपयोग हुआ है। सामान्य प्रजनन में माँ और पिता दोनों के जीन का उपयोग होता है।

क्या मानव का क्लोन बनाना चाहिए ? पशुओं के उपरोक्त परिणामों को देखकर वैज्ञानिक भी भयभीत हैं। अमेरीका में कानून भी बना दिया गया है कि मानव का क्लोन नहीं बनाया जा सकता है। तकनीकी पहलुओं के अतिरिक्त क्लोन बनाने के कई नैतिक, सामाजिक पहलू भी हैं जो हमें क्लोन बनाने से रोकते हैं। परन्तु विश्व व्यवस्था हमेशा सद्विचारों और सद्भावनाओं से ही नहीं चलती। असुरों का इस विश्व में हमेशा अस्तित्व रहा है। समाचार है कि विश्व के किसी कोने में मानव क्लोन की तैयारी चल रही है।

रासायनिक संयोग में हेरफेर करके कोशाओं के स्वरूप में परिवर्तन करके मनुष्य का वर्तमान स्तर बदला जा सकेगा ऐसा पिछले बहुत दिनों से सोचा जा रहा है। इस संदर्भ में गुण सुत्रों और जीन्स की खोज–खबर ली जा रही है। अब एक नये चरण में विज्ञान ने प्रवेश किया है और माना है कि यदि कोशाओं के स्तर में कुछ परिवर्तन करना है तो वह रासायनिक हेर फेर से नहीं, विद्यमान विद्युत प्रवाह में ही कुछ उलट–पुलट करके संभव हो सकेगा। अब रसायन मुख्य नहीं रहे उनका स्थान विद्युत ने ले लिया है।

वैज्ञानिक मानवी विद्युत के प्रयोग द्वारा भावी पीढ़ी को सुविकसित बनाने और उसका स्तर सुधारने के लिए प्रयत्नशील हैं। मानवी काया के निर्माण में बीज भूमिका निभाने वाले जनन–रस में पाये जाने वाले गुण–सूत्र में एक व्यक्त रूप डामिनेंट हैं। दूसरा अव्यक्त रूप है – रिसेसिव । व्यक्त भाग को भौतिक माध्यमों से प्रभावित किया जा सकता है और उस सीमा तक भले या बुरे प्रभाव संतान में उत्पन्न किये जा सकते हैं, पर अव्यक्त स्तर को केवल जीव की निजी इच्छाशक्ति ही प्रभावित कर सकती है। महत्वपूर्ण परिवर्तन इस चेतनात्मक परिधि में ही हो सकते हैं, इसके लिए रासायनिक अथवा चुंबकीय माध्यमों से काम नहीं चल सकता। इनके लिए चिंतन को बदलने वाली अंतःस्फुरणा अथवा दबाव भरी परिस्थितियाँ होनी चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह सोचा जाने लगा है कि माता–पिता का स्तर सुधारे बिना सुसंतति की समस्या प्रयोगशालाओं द्वारा हल न हो सकेगी। वनस्पति अथवा पशुओं में सुधार उत्पादन सरल है, पर मनुष्यों में पाए जाने वाले चिंतन तत्व में उत्कृष्टता भरने की आवश्यकता यांत्रिक पद्धति कदाचित् ही पूरी कर सकेगी।

गुण सुत्रों में हेर फेर करके तत्काल जिस नई पीढ़ी का स्वप्न इन दिनों

देखा जा रहा है, उसे म्यूटेशन आकस्मिक परिवर्तन प्रक्रिया कहा जाता है। म्यूटेशन के संदर्भ में पिछले दिनों पैवलव, मेकडुगल, मारगन, मुलर, प्रकृति जीव विज्ञानियों ने अनेक माध्यमों और उपकरणों से विविध प्रयोग किए हैं। जनन रस को प्रभावित करने के लिए उन्होने विद्युतीय और रासायनिक उपाय अपनायें। सोचा यह गया था कि उससे अभीष्ट शारीरिक और मानसिक क्षमता संपन्न पीढ़ियाँ उत्पन्न होगीं, पर उनसे मात्र शरीर की ही दृष्टि से थोडा हेर फेर हुआ। विशेषतया बिगाड प्रयोजन में ही सफलता अधिक मिली, सुधार की गति अति मंद रही। गुणों में पुर्वजों की अपेक्षा कोई अतिरिक्त सुधार संभव न हो सका।

एक जाति के जीवों में दूसरे जाति के जीवों की कलमें लगाई गई और वर्णशंकर संतानें उत्पन्न की गई। यह प्रयोग उसी जीवधारी तक अपना प्रभाव दिखाने में सफल हुए। अधिक से अधिक एक पीढ़ी कुछ बदली बदली सी जन्मी, इसके बाद वह क्रम समाप्त हो गया। घोडी और गधे के संयोग से उत्पन्न होने वाले खच्चर अगली पीढ़ियों को जन्म देने में असमर्थ रहते हैं।

सुसंतति के संबंध में वैज्ञानिक प्रयोग अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि रासायनिक हेर फेर करके शारीरिक दृष्टि से अपेक्षाकृत थोडी मजबुत पीढियाँ तैयार कर दें, पर उनमें नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक उत्कृष्टता भी होगी, इसकी गारंटी नही दी जा सकती। ऐसी दशा में उज्जवल भविष्य का निर्माण कर सकने वाले नागरिकों का सर्वतोमुखी सृजन कहाँ संभव होगा?

अध्यात्म विद्या इस प्रकार के सफल निष्कर्ष बहुत पहले ही निकाल चुकी है कि तप साधना से पति पत्नि के शरीर में विद्यमान गुणसूत्र परिष्कृत किए जा सकते हैं। पीढियों से चली आ रही विकृतियों का निराकरण किया जा सकता है और साधना पुंजी से सुसम्पन्न व्यक्ति यदि ब्रह्मचर्य पालन की तरह ही सुसंतति उत्पादन का प्रयोजन सामने रखे तो निस्संदेह ऋषि परंपरा की पीढ़ियों का सृजन हो सकता है और आनुवंशिकी विज्ञान जिस महामानव के आदि पूर्वज को विनिर्मित करने में संलग्न है, वह प्रयोजन पूरा किया जा सकता है।

8.4 पृथ्वी पर जीवन का उद्‌गम

मानव और कुछ अन्य जीवों के जीनोम के पूरे नक्शे तैयार कर लिए गये हैं। जीनेटिक कोड जीव के विकास का पूरा इतिहास बताता है। जिन दो प्राणियों के जिनेटिक कोड में काफी हद तक समानता है उनका उद्‌गम एक ही जाति के प्राणी से होने की संभावना है। जीनोम के उस भाग, जिनमें निष्क्रिय डी.एन.ए. हैं, में हुए

परिवर्तनों के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह पूर्वज प्राणी कब रहता था। उपलब्ध जीनोम के अध्ययन के आधार पर वैज्ञानिक निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं–

- पृथ्वी पर सभी मनुष्य उस एक मानव की संतान हैं जो 27 लाख वर्ष पहले रहता था।
- मानव और वर्तमान बंदर एक ही पूर्वज की संतान हैं जो 70 लाख वर्ष पहले रहता था।
- मानव और चूहे उस एक पूर्वज की संतान हैं जो 5 करोड वर्ष पूर्व रहता था।
- मानव का उद्‌गम उस एकल कोशिका धारी जीव से हुआ जो 35 करोड वर्ष पहले रहता था।
- पृथ्वी 45 करोड वर्ष पहले अस्तित्व में आई और 38 करोड वर्ष पहले तक पृथ्वी जीव के रहने लायक नहीं थी।

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि जब अन्य प्राणियों के जीनोम नक्शे भी तैयार हो जाएगें तब पृथ्वी पर सभी जीवों के उदगम का एक क्रम निर्धारित हो सकेगा। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न किया गया है कि पहले पहल एकल कोशिका जीव कहाँ से आया? वैज्ञानिकों ने अनेक धारणाएं प्रस्तुत की हैं।

1. जीव अचानक पदार्थ से बनाः– कुछ वैज्ञानिकों की धारणा है कि उस समय में उपलब्ध पदार्थों से जीव का उद्‌गम हुआ। उन्होने कुछ प्रयोग करके भी दिखाया कि आवश्यक तत्व को इकट्ठा कर आवश्यक ऊर्जा और प्रकाश की सहायता से एमीनों एसिड बनाया जा सकता है जो प्राणी के शरीर की ईंट कहा जा सकता है। यह तो एक प्रयोग द्वारा सिद्ध हुआ परन्तु उस प्राचीन काल में ऐसा अपने आप हो जाना चाहिए जिसकी कल्पना करना बहुत कठिन है।

2. जीवन का प्रारम्भ बहुत सरल प्रकार के जीवाणु से हुआ। यह भी कुछ वैज्ञानिकों की धारणा है। वर्तमान विज्ञान यह बताता है कि यदि किसी सरल जीवाणु से जटिल किस्म का जीव बनता है तो उस सरल जीव का नाश नहीं हो जाता। अतः वह सरल जीवाणु भी वर्तमान में उपलब्ध होना चाहिए। इस तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकी है।

3. जीव का उद्‌गम अज्ञात है। कुछ वैज्ञानिकों की धारणा है कि जीव का उद्‌गम अज्ञात है और यह मालूम भी नही किया जा सकता है।

4. जीव अंतरिक्ष से आया। कुछ वैज्ञानिक सोचते हैं कि जीव अंतरिक्ष से आया। किसी ग्रह के टूटे टुकडे या उल्का या पुच्छल तारे के सहारे इस प्रकार जीव

का आना संभव है। अमेरिका की नासा संस्था को उल्का के एक टुकडे में डी.एन.ए. मिला जो दो करोड वर्ष पुराना है। इससे लगता है कि अंतरिक्ष से जीव का आना संभव है। अंतरिक्ष में किसी अन्य ग्रह या स्थान पर जीव था और वह पृथ्वी पर आ गया, इसमें बहुत वैज्ञानिक विश्वास करतें हैं। इस धारणा से इस बात को भी बल मिलता है कि ब्रहमाण्ड में ऐसे और भी ग्रह हैं जहाँ जीवन है।

8.5 समीक्षा

एक कोश में जीवन के सारे लक्षण विद्यमान रहते हैं। कोश का सबसे महत्वपूर्ण भाग नाभिक है, जिसके बिना कोशिका जीवित नही रह सकती। नाभिक में गुणसूत्र और उसके अन्दर जीन्स होते हैं। स्थूल रुप में जीन्स न्यूक्लिक एसिड से बनते है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से यह एक प्रकार की विद्युत चुम्बकीय शक्ति हैं। नाभिक के बारे में वैज्ञानिकों की जानकारी अभी भी अधुरी है। आहार क्रम और तपस्या से कोशिकाओं को बदला जा सकता है, उन्हें शुद्ध सात्विक बनाया जा सकता है। आध्यात्मिक दर्शन के अनुसार नाभिक में इच्छा, आशा, संकल्प और वासना का अंश रहता है। मृत्यु होने पर अनेकों कोश ही विद्युत चुम्बकीय प्रकाश का एक स्वतंत्र शरीर बनाए हुए निकल जाते हैं, उनमें यह सारी स्मृतियाँ बनी रहती हैं, जो जीवित अवस्था में ज्ञान में आई थी। नाभिक आकाश तत्व पर स्थित है, वह किसी तत्व पर टिका हुआ नहीं है। कोशिका विभाजित होकर नई कोशिका को जन्म देती है परन्तु इस विभाजन का कारण अभी तक निश्चित नहीं है।

नाभिक में स्थित डी.एन.ए. एक विशिष्ट रचना है जो चार प्रकार के न्यूक्लोटाइड बेस के क्रम विशेष में व्यवस्थित होने का परिमाण है। डी.एन.ए. का छोटा से छोटा भाग जो स्वतंत्र रुप में व्यवहार कर सकता है जीन कहलाता है। डी.एन.ए. क्रम का विशेष महत्व है, यह भिन्न भिन्न प्राणियों में भिन्न भिन्न होता है और एक ही व्यक्ति में उसके स्वास्थ्य की स्थिति पर निर्भर करता है। जीन आनुवंशिकता के वाहक हैं। हमें अपनी शारीरिक विशेषताएं जीन्स के माध्यम से ही अपने माता पिता तथा पूर्वजों से प्राप्त होती हैं। वैज्ञानिक यह प्रयास कर रहें है कि किस प्रकार जीन में परिवर्तन करके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाने वाली बीमारियों और दोषों को रोका जा सके। वनस्पति जगत में इस दिशा में कुछ सफलता मिली है। जीन का व्यक्ति के व्यवहार और आचरण से सीधा संबंध नहीं होता। जीन शरीर के ऊतकों तथा अंगों के विकास को ही निर्देशित नियंत्रित कर सकते हैं। मनुष्य के अनुभव जीन के प्रभाव को भी बदल सकते हैं।

वैज्ञानिक क्लोनिंग में सफल हो गये हैं। वनस्पति जगत में क्लोनिंग की उपयोगिता महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है, वैज्ञानिक वनस्पतियों की दोष रहित नई प्रजातियों को विकसित करने में सफल हुए हैं। पशु जगत में क्लोनिंग के प्रयोग अभी अपूर्ण अवस्था में हैं। क्लोन पशुओं में कई प्रकार कि कमियाँ पायी गयी हैं। मनुष्यों में क्लोनिंग प्रयोग के बारे में कई प्रश्न उठ खडे होते हैं। सोचा गया था कि क्लोनिंग से शारीरिक और मानसिक क्षमता संपन्न पीढ़ियाँ उत्पन्न होगीं, परन्तु अभी तक मात्र शरीर की दृष्टि से थोडा हेर फेर हो पाया है। गुणों में पुर्वजों की अपेक्षा कोई अतिरिक्त सुधार संभव नही हो सका है। पशुओं में वर्णशंकर संताने उत्पन्न की गई, परन्तु इसका प्रभाव वर्तमान पीढी तक ही रहा, अधिक से अधिक कुछ प्रयास अगली एक पीढ़ी तक रहा।

वस्तुतः गुणों को प्रभावित करने के लिए केवल जीन में परिवर्तन अपर्याप्त है। इस प्रयोजन हेतु वैज्ञानिकों का ध्यान अब मानवी विद्युत की तरफ गया है। अब यह भी सोचा जाने लगा है कि माता पिता का स्तर सुधारे बिना सुसंतति की समस्या प्रयोगशाला द्वारा हल न हो सकेगी। अध्यात्म विद्या इस प्रकार के निष्कर्ष बहुत पहले निकाल चुकी है।

आजकल जैन समाज में इस प्रश्न की बहुत चर्चा है कि जब क्लोनिंग से मनचाहे प्राणियों का निर्माण संभव है तो क्या कर्म सिद्धान्त की सच्चाई दाव पर नहीं हैं? प्रश्न उचित है और इसका समाधान होना ही चाहिए। आत्मा बिना जीन के शरीर का निर्माण नहीं कर सकती। सामान्य प्राकृतिक प्रक्रिया में जीन माता और पिता के अंडाणु और शुक्राणु द्वारा उपलब्ध कराए जाते हैं और उसी से शरीर निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसके साथ ही विकसित होने वाले शरीर में आत्मा का निवास हो जाता है। गर्भस्थ शिशु पर आत्मा के पूर्व कर्म, माता पिता के जीन के गुण, और गर्भ में उपलब्ध भौतिक और मानसिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। जब क्लोन तैयार किया जाता है तब भी यह तो मानना ही पडेगा कि उसमें एक आत्मा का निवास हो जाता है। यही कारण है कि क्लोन के शारीरिक गुण तो जन्म देने वाले जीन से मिलते हैं परन्तु उसका व्यक्तित्व भिन्न होता है। क्लोन में निवास करने वाली आत्मा ही उस प्राणी का व्यक्तित्व निर्धारित करती है। कौन आत्मा क्लोन में निवास करेगी यह वैज्ञानिकों के हाथ में नहीं है। अतः यह असंभव है कि वैज्ञानिक मनचाहे गुण, स्वभाव वाले क्लोन तैयार कर सकें। क्लोन की तकनीक विकसित करना वैज्ञानिकों की एक बड़ी उपलब्धि तो मानी जाएगी परन्तु इससे मानव समाज को कितना खतरा हो सकता है इसका सही आंकलन अभी नहीं हुआ है।

8.6 संदर्भ

1. अणु में विभु–गागर में सागर — पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
2. चेतना की प्रचण्ड क्षमता–एक दर्शन — पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
3. विभिन्न वेबसाइट्स

अध्याय 9.

जैव विद्युत और जैव प्रकाश

9.1 जैव विद्युत

मनुष्य शरीर में स्नायुतंत्र, हृदय, मांशपेशियों आदि का कार्य विद्युत की सहायता से सम्पन्न होता है। शरीर के अन्दर व्याप्त जैव विद्युत की मात्रा पर ही व्यक्ति का उत्कर्ष एवं विकास निर्भर करता है। किसी व्यक्ति विशेष में यदि जैव विद्युत सामान्य व्यक्ति से अधिक होती है तब वह प्रतिभाशाली, विद्वान, मनीषी एवं प्रखर बुद्धि का धनी होता है, पर यदि किसी व्यक्ति के यह कम मात्रा में होती है तब वह व्यक्ति मंद बुद्धि होता है और उसको कई प्रकार के मनोरोग धेर लेते हैं।

तंत्रिका विशेषज्ञों के अनुसार प्रत्येक न्यूरान एक छोटा डायनेमो है। काय विद्युत का उत्पादन मुख्यतया यही वर्ग करता है। इसका केन्द्र मस्तिष्क है। एक सामान्य स्वस्थ युवा व्यक्ति का मस्तिष्क 20 वाट विद्युत उत्पन्न करता है जिससे उसके शरीर की समस्त गतिविधियाँ संचालित होती हैं। सामान्य जाँच प्रक्रिया में हृदय कोशिकाओं में विद्यमान इस बिजली का प्रयोग ई.सी.जी. में तथा मस्तिष्क सेल्स की विद्युत का ई.ई.जी. में प्रयोग होता है।

जैव भौतिकी के नोबल पुरस्कार प्राप्त प्रख्यात वैज्ञानिक हाजकिन हक्सले और एक्सील ने मानवी ज्ञान तंतुओं में काम करने वाले विद्युत आवेगों की खोज की है। इनके प्रतिपादनों के अनुसार ज्ञान तंतु एक प्रकार के विद्युत संवाही तार हैं जिनमें निरन्तर बिजली रहती है। पूरे शरीर में इन धागों को समेटकर एक लाइन में रखा जाए तो उनकी लम्बाई एक लाख मील से भी अधिक बैठेगी। इस प्रकार इतने बड़े तंत्र को विभिन्न दिशाओं में गतिशील रखने वाले यंत्र को कितनी अधिक बिजली की आवश्यकता पडेगी, यह विचारणीय है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि मानवी काया एक उच्चस्तरीय परमाणु बिजलीघर है। इससे प्राण विद्युत तरंगों का निरन्तर कम या अधिक मात्रा में विकिरण होता रहता है। येल विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री हेराल्ड बर्र ने अपने शोध निष्कर्ष में बताया है कि प्रत्येक जीवधारी अपने अपने स्तर के अनुरूप कम या अधिक विभव वाली विद्युत उत्पन्न करता है। मनुष्यों में पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं में इसकी मात्रा अधिक होती है। इस मानवीय विद्युत शक्ति को उन्होनें "लाइफ फील्ड" के नाम से सम्बोधित किया है। उनके अनुसार व्यक्तित्व के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति का अलग अलग लाइफ फील्ड होता है। जैव क्रियाओं से संबंधित होने के

कारण उसमें परिवर्तन होता रहता है। आवेशग्रस्त होने अथवा घृणा, ईष्या की स्थिति में मनुष्य शरीर से बिजली की सर्वाधिक क्षति होती है।

प्रख्यात वैज्ञानिक डा. ब्राउन के मतानुसार एक स्वस्थ नवयुवक के शरीर और मस्तिष्क में व्याप्त विद्युत शक्ति से एक बडी मिल को संचालित किया जा सकता है जबकि छोटे बच्चे के शरीर में समाहित विद्युत से एक रेलगाडी का इंजन चल सकता है। इस विद्युत को उन्होने "बायोलोजिकल इलेक्ट्रिसिटी" कहा है। उनके अनुसार यह जैव विद्युत मनुष्य के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होती है और स्थूल काया समेत समस्त गतिविधियों का नियंत्रण नियमन करती है। शरीर में काम आने वाली जैव विद्युत में कभी कभी व्यतिरेक होने से गंभीर संकटों का सामना करना पडता है।

भौतिक बिजली का जैव विद्युत में परिवर्तन असंभव है, पर जैव विद्युत के साथ भौतिक बिजली का सम्मिश्रण बन सकता है। जड़ की तुलना में चेतन की जितनी श्रेष्ठता हैं उतना ही भौतिक और जैव विद्युत में अन्तर है। जैव विद्युत भौतिक विद्युत की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक बलशाली एवं प्रभावी है। जैव विद्युत पर नियंत्रण, परिशोधन एवं उसका संचय तथा केन्द्रीयकरण करने से मानव असामान्य शक्तियों का स्वामी बन सकता है। अभी तो वैज्ञानिकों ने केवल स्थूल एवं भौतिक विद्युत के चमत्कार जाने हैं और जिनकों जानकर वे आश्चर्यचकित हैं। जिस दिन मानवी शरीर में विद्यमान इस जैव विद्युत शक्ति के अथाह भण्डार का पता लगेगा उस दिन अविज्ञात क्षेत्र के असंख्य आश्चर्यचकित रहस्योद्घाटन का क्रम आरम्भ हो जाएगा।

विभिन्न प्रयोग परीक्षणों के आधार पर यह प्रमाणित किया जा चुका है कि काया के सूक्ष्म केन्द्रों के इर्दगिर्द प्रवाहमान विद्युतधारा ही सुखानुभूति का निमित्त कारण है। वैज्ञानिकों का कहना है कि वैद्युतीय प्रकम्पनों के बिना किसी प्रकार की सुख संवेदना का अनुभव नहीं किया जा सकता। पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाएं एवं अनुभूतियाँ उनके अभाव में विद्युत कम्पनों से भी पैदा की जा सकती हैं। परामनोवैज्ञानिकों की भी यही मान्यता है कि सुःख दुःख की अनुभूतियाँ जैव विद्युत तरंगों पर निर्भर करती हैं।

मनुष्य का शरीर वायुमण्डल में विद्यमान विद्युत विभव से प्रभावित होता है। वैज्ञानिक बताते हैं कि पृथ्वी की सतह और वायुमण्डल के आयनोस्फियर्स के मध्य लगभग तीन लाख वोल्ट शक्ति का धन विद्युत विभव है, इसकी तुलना में पृथ्वी उतनी ही ऋण विद्युत से युक्त है। 5 वोल्ट प्रति मीटर की औसत से विद्युत का दबाव पृथ्वी के हर जीवधारी पर 60 किलोमीटर की ऊचाँई पर अवस्थित आयनोस्फियर की

सबसे निचली परत से सतत् बना हुआ है। यह विद्युत दबाव मानव शरीर में एक विद्युत धारा को प्रवाहित करता है जो लगभग 10^{-16} एम्पीयर सेकण्ड प्रति सेंटीमीटर बैठती है। नगण्य सा दिखने वाला यह विद्युत प्रवाह बहुत सामर्थ्यवान है। यह विद्युत शक्ति ही जीवधारियों के शरीर संस्थान व मनः संस्थान का मूल प्रेरक बल कहा जा सकता है।

पृथ्वी पर जिस भूमण्डलीय दबाव तथा विद्युत विभव के आकर्षण क्षेत्र में जीवधारी रहते हैं वैज्ञानिकों के अनुसार शरीर रूपी जेनरेटर तथा मनः संस्थान की विद्युत को सक्रिय बनाए रखने के लिए यह अति आवश्यक है। यह विशेषकर तब देखा गया जब अंतरिक्ष यात्रियों को पृथ्वी के वातावरण से दूर भेजा गया व उनमें स्फूर्ति का अभाव, निर्णय लेने में अक्षमता व अत्यधिक शारीरिक थकान पायी गई। कृत्रिम रूप से अंतरिक्ष यानों के अन्दर जब ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की गई जैसी पृथ्वी पर होती हैं, तब ये लक्षण समाप्त हो गये। इससे स्पष्ट होता है कि मानव जिस वातावरण में रहता है, वहीं से विद्युत बल अपने अन्दर अवशोषित कर निरन्तर सक्रिय बना रहता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक द्वय डाण्डेनियल एवं काटवर्ग ने तो यह भी सिद्ध कर दिया है कि मानव का दीर्घ जीवन तथा प्रजनन क्षमता अदृश्य बाह्य क्षेत्रों से आ रही विद्युत वर्षा पर निर्भर है। आज के आधुनिक युग में आयुष्य कम होने व नपुंसकता बढने का कारण वे वातावरण की विद्युत में सतत् कमी व मनुष्य की कृत्रिमता को अपनाने के कारण जो कुछ भी उपलब्ध है उसे ग्रहण करने में अक्षमता बताते हैं। इस विद्युत संधारक को, जिसके मध्य हम सब बैठे हैं वैज्ञानिक "ग्लोबल केपेसीटर" कहते हैं– यह शान्त नही बैठा रहता वरन् उसमें प्राकृतिक हलचलें व विद्युत स्खलन निरन्तर होता रहता है। इस केपेसीटर से जो तरंगें निस्सृत होती हैं उनकी मूल आवृति 7–8 तरंगें प्रति सेकण्ड होती हैं। वे पृथ्वी सतह और आयनोंस्फियर के बीच निरन्तर गुंजायमान होती रहती हैं। इन तरंगों को "शूमेन रेजोनेन्स" कहते हैं। और यह एक अद्‌भुत साम्य है कि हमारे मस्तिष्क की विद्युत तरंगें इनसे हर गुण में मिलती जुलती हैं। एक ही आवृति पर दोनों चलायमान हैं। श्री आर.ए. वेद ने अपनी पुस्तक "दि सरकोडियन रिदम्स ऑफ मेन" में यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के रिद्‌म (क्रिया कलाप) विद्युतीय क्षेत्रों और विद्युत चुम्बकीय तरंगों से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं तथा आसपास के वातावरण को अपने अन्दर चलायमान इन हलचलों से प्रभावित करने में भी पूर्णतः सक्षम होते हैं।

इसके अतिरिक्त पृथ्वी के गर्भ में एक प्रचण्ड प्रभावशाली विद्युतीय शक्ति क्षेत्र पाया जाता है। प्रति वर्ग सेंटीमीटर एक एम्पियर के लगभग प्रवाहित यह शक्ति

धारा सारे पृथ्वी क्षेत्र में कुण्डलाकार व्याप्त होने के कारण कई गुना हो जाती है व चुम्बकीय विद्युतीय तूफानों का रूप ले लेती है और मानवी काया के हर अंग अवयव को, जीव कोषों, रक्त कोषों तथा चक्र–उपत्यिकाओं को प्रभावित करती है। रूस में इस दिशा में परामनोवैज्ञानिक शोधों ने बताया है कि अतीन्द्रिय क्षमता का जागरण बहुत कुछ अपने अन्दर के प्रवाह का इस चुम्बकीय धारा से साम्य बिठाना संभव है।

शरीर में चुम्बकत्व होने से बाह्य चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव भी हमारे शरीर पर पडता है। मानवी चुम्बकत्व का स्रोत ढूंढने वालों ने अभी इतना ही जाना है कि वह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति से उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे धरती सूर्य से अनुदान प्राप्त करती है। मनुष्य का चुम्बकत्व घटता बढ़ता रहता है। इसकी अल्पता से आँखों का विशेष आकर्षण समाप्त हो जाता है, शरीर रूखा, नीरस, कुरुप, निस्तेज, शिथिल सा दिखाई पडने लगता है, साथ ही मनुष्य को विस्मृति भ्रांति, थकान जैसी अनुभूति होती है– जबकि चुम्बकत्व के आधिक्य से वह आकर्षक, मोहक और सुन्दर लगने लगता है।

अंतरिक्ष में संव्याप्त भले–बूरे अनुदानों को मनुष्य अपने चुम्बकत्व द्वारा ही स्वीकार करता है। इस शक्ति का उर्ध्वगामी प्रवाह मस्तिष्क में केन्द्रित है। मस्तिष्क को मानवी चुम्बक का उत्तरी ध्रुव कहा जाता है। जननेन्द्रिय मूल में काया का दक्षिणी ध्रुव स्थित है।

सेन फ्रांसिस्को के प्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री डा. अलबर्ट अब्राहम के अनुसार मानवी काया को चुम्बकीय ऊर्जा तरंगों का भँवर कहा जाना चाहिए। मनुष्य के शरीर से 80 अरब साइकल्स प्रति सेकण्ड की दर से विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा का विकिरण होता रहता है, जबकि आकर्षण क्षमता इससे कई गुना अधिक है। मस्तिष्क, हाथ–पैर की अंगुलियाँ, नैत्र, जननेन्द्रिय आदि से इन ऊर्जा तरंगों का सबसे अधिक निष्कासन होता है।

शारीरिक संरचना में भाग लेने वाले विभिन्न तत्वों के अतिसूक्ष्म परमाणविक कण इलेक्ट्रान, प्रोटोन, न्यूट्रान आदि विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा से परिपूर्ण होते हैं। लाल रक्त कणों में भी लोहे की प्रचुर मात्रा होती है, सारे शरीर में रक्त के निरन्तर प्रवाहित होते रहने से एक निश्चित विद्युत प्रवाह बना रहता है। इस प्रवाह से चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है, यही लौह तत्व विश्वव्यापी ऊर्जा का अवशोषण करके कोशिकाओं को विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए ऊर्जा की पूर्ति करता है। मैस्मेरिज्म के प्रयोगों में प्रयोक्ता द्वारा अपने चुम्बकीय विद्युत के सहारे दूसरों को सम्मोहित करने की प्रक्रिया संपादित होती है।

9.2 जैव प्रकाश

पिछले लगभग अस्सी वर्षों से वैज्ञानिकों को अस्पष्ट रूप से यह ज्ञात था कि जीवित कोशिकाओं से एक प्रकार का अति क्षीण प्रकाश उत्सर्जित होता है। रसियन वैज्ञानिक एलेक्जेण्डर गुरवीत्स ने तीस के दशक में पहली बार यह पाया कि पौधे अल्प मात्रा में प्रकाश का उत्सर्जन करते हैं। 1950 में इस अति मंद प्रकाश को मापने के यंत्र बनाए गये। यह प्रकाश इतना मंद होता है कि उसकी मात्रा 10 किलोमीटर दूर रखी हुई मोमबती के प्रकाश के बराबर है। प्रयोगों से पाया गया कि इस प्रकाश की तीव्रता एक वर्ग सेंटीमीटर में कुछ फोटोन से लेकर कुछ हजार फोटोन प्रति सेकण्ड तक हो सकती है। वैज्ञानिकों ने पाया कि कोशिकाओं से उत्सर्जित होने वाला यह प्रकाश सूर्य प्रकाश से भिन्न प्रकृति का है, उन्होने कोशिका से आने वाले फोटोन को जैव फोटोन नाम दिया। इस प्रकाश का स्पैक्ट्रम भी बहुत विस्तृत पाया गया।

जीवित कोशिकाओं में यह प्रकाश कैसे उत्पन्न होता है इसके बारे में दो मत थे। पहले मत के अनुसार यह अति मंद और विस्तृत स्पैक्ट्रम वाला प्रकाश कोशिकाओं में हो रहे जैव रासायनिक क्रियाओं का एक अमहत्वपुर्ण फल है। दूसरे मत के अनुसार यह प्रकाश इस बात का संकेत है कि कोशिकाओं में एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र विद्यमान है जो प्रकाश के फोटोन कण ग्रहण भी करता है और उत्सर्जित भी करता है तथा यह जैव विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र कोशिकाओं में हो रही जैविक क्रियाओं के नियंत्रण का माध्यम बनता है। आगे की गई खोजों से प्रमाणित हो गया कि दूसरा मत ही सही है।

हमारी प्रचीन विचारधारा के अनुसार प्रकृति में एक स्वाभाविक संतुलन बना हुआ है। यही तथ्य आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित होता है और यह संकेत करता है कि विश्व में सभी प्राणी और प्रकृति आपस में सम्बद्ध हैं। हम यह जानते है कि किस प्रकार पृथ्वी पर सृष्टि सौर ऊर्जा के सहारे चलती है। सौर ऊर्जा चक्र के समानान्तर एक रासायनिक चक्र भी चलता है। पृथ्वी पर नाइट्रोजन और कार्बन के चक्र ज्ञात हैं। प्राणियों और प्रकृति के बीच संतुलन एक ब्रह्माण्डीय विशिष्टता है।

वैज्ञानिकों ने पाया कि विभिन्न प्राणियों के शरीर में सौर ऊर्जा का उपयोग आश्चर्यजनक तरीके से अल्पतम अपव्यय के साथ होता है। उनके अनुसार ऐसा होना केवल सामान्य आणविक क्रियाओं के आधार पर समझना कठिन है। संभवतया जीवित प्राणी की कोशिकाओं में सुपर संचालकता के गुण हैं जो ऊर्जा के अपव्यय को रोकते है। ऐसा गुण कोशिका क्षेत्र की ऊर्जा में कोहरेन्स गुण विद्यमान होने पर ही संभव

है। कोरहेन्स गुण के होने से जीवों मे कई प्रकार की क्षमताऐ संभव हो जाती हैं, जैसे–

(1). ऊर्जा के संचालन और प्रत्यावर्तन में उच्च एफिसियेन्सी जो सौ प्रतिशत तक हो सकती है।

(2). कोशिका के अन्दर हर स्तर पर सूचनाओं का प्रसारण

(3). शरीर की विभिन्न कोशिकाओं के बीच संचार–विनियम

(4). समान प्रकृति (आवृति) वाले दूसरे प्राणियों से सूचना का आदान प्रदान

(5). विभिन्न आवृति के विद्युत चुम्बकीय संकेतों के द्वारा कोशिकाओं या जीवाश्मों के बीच संकेतों की पहचान और सूचना संप्रेषण आदि।

1979 में जर्मनी के डा. प्रिट्ज अलबर्ट पोप ने जीवन विज्ञान के क्षेत्र में एक नई और क्रांतिकारी खोज को प्रकाशित किया। उन्होने बताया कि जैव कोशिका के पूर्ण क्रिया कलाप की व्याख्या तापीय समन्वय के आधार पर नही की जा सकती। उनकी खोज के अनुसार जीवित कोशिकाएं जो जैव प्रकाश उत्सर्जित करती है, वह कोहेरेन्ट ही है, उनके गुण लेजर किरणों से मिलते जुलते हैं। जैव प्रकाश का यह कोहेरेन्ट गुण कोशिकाओं में चयापचय क्रिया को नियंत्रित करने में तथा प्रजनन गति को सुचारू रूप से चलाने में सक्षम है। इसी कोहेरेन्ट जैव प्रकाश के कारण एक जीवित कोशिका सुपर संचालक होती है। डा. पोप ने पाया कि जीवित शरीर में एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र व्याप्त रहता है जो जैव फोटोन से बना होता है। यह विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र निरन्तर वातावरण से ऊर्जा ग्रहण करता है और साथ ही साथ अपने जैव फोटोन जो विशेष तौर पर अल्ट्रा बैंगनी रेन्ज में होते हैं, को वातावरण में प्रसारित भी करता रहता है। समस्त कोशिकाएं इस विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में डुबी रहती हैं और उनके बीच सतत् संचार विनिमय होता रहता है। डा. पोप के अनुसार जैव फोटोन का संग्रहण और उत्सर्जन कोशिका के अन्य भाग की तुलना में डी.एन.ए. में अधिक होता है।

अन्य वैज्ञानिकों द्वारा बाद में किए गये प्रयोगों से निश्चित रूप में प्रमाणित हो गया है कि जैव फोटोन में कोहेरेन्ट गुण होते हैं। सभी प्राणी नियमित गति से जैव प्रकाश उत्सर्जित करते हैं जो कुछ फोटोन प्रति कोशिका प्रतिदिन से लेकर कुछ सौ फोटोन प्रति सेकण्ड प्रति सेंटीमीटर तक हो सकते हैं। विश्व की विभिन्न प्रयोगशालाओं में किए गये प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि ये जैव फोटोन जीवाश्म में उपस्थित कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा उत्सर्जित किए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कोशिका कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय संकेत प्रसारित भी करती है और दूसरी कोशिकाओं

से संकेत ग्रहण भी करती है। कोहेरेन्ट होने के कारण कोशिका से उत्सर्जित होने वाले प्रकाश का वातावरण में ही पूर्णतया क्षय नहीं हो जाता है बल्कि उसका एक अंश वापस शरीर में ही ग्रहण कर लिया जाता है।

प्रयोगों से यह भी पाया गया है कि जैव फोटोन विभिन्न आवृति वाले होते है जिनकी उपस्थिति इन्फ्रा रेड से अल्ट्रा वायलेट रेन्ज तक देखी गई है। इनका तरंग दैर्ध्य प्रायः 260 से 800 नेनोमीटर के बीच होता है। हर आवृति पर फोटोन की संख्या लगभग बराबर होती है जबकि सामान्य सूर्य प्रकाश में ऐसा नही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि कोशिका के प्रत्येक अणु से यह प्रकाश उत्सर्जित होता है और शरीर में यह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। सभी जीवाश्म अपने आसपास 10 मीटर की दूरी तक और 10 दिन से 90 दिन या उससे भी अधिक समय तक जैव फोटोन ऊर्जा का संग्रहण कर सकते हैं जिससे इस ऊर्जा की कभी भी कमी अनुभव नही हो सकती।

जैव फोटोन का उत्सर्जन जीवाणु से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों में पाया गया है। इसकी संवेदनशीलता ऐसी है कि इनसे प्राप्त संकेत प्रकाश उत्सर्जित करने वाले अवयव की क्रियाशीलता की स्थिति को भली भाँति प्रकट करते हैं। अतः जैव फोटोन स्थूल अवयव की एक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। मानव शरीर से उत्सर्जित होने वाले जैव फोटोन के अध्ययन से यह पाया गया है कि –

(1). शरीर के दायें और बायें भाग में समानता है,

(2). शरीर में 14 दिन, 3 माह और 9 माह के समय चक्र विद्यमान है,

(3). शरीर के दायें और बायें भाग में असमानता बीमारी के लक्षण हैं। रूग्ण ऊतक कम मात्रा में जैव फोटोन उत्सर्जित करते हैं, और

(4). शरीर में प्रकाश मार्ग बनें हुए है जो विभिन्न अवयवों के बीच शक्ति और सूचना संचार पर नियंत्रण करते हैं।

डा. अलबर्ट पोप के अनुसार जीव विज्ञान को समझने के लिए आणविक विज्ञान एक आवश्यक कदम हो सकता है परन्तु उसकी सम्पूर्ण व्याख्या के लिए यह कदापि सक्षम नहीं हैं। अणु शरीर की विभिन्न क्रियाओं में भाग लेते हैं परन्तु उनका अपना कोई ज्ञान नही होता। शरीर के एन्जाइम अणुओं का कार्य भी फोटोन जैसे बाहरी कण द्वारा आरम्भ किया जाता है। फोटोन में सीधी गति, चक्र गति, स्पन्दन और विद्युत जैसी शक्ति होती है जिसकी सहायता से वे अणुओं की क्रियाएं आरम्भ कर सकते हैं। जैव फोटोन की क्रियाशील शक्तियाँ पूरे विद्युत चुम्बकीय स्पैक्ट्रम जिसमें रेडियों तरंगें, माइक्रो तरंगें, इन्फ्रारेड तरंगें, दृश्य तरंगें और पराबैंगनी तरंगें

आदि शामिल हैं, में व्याप्त हैं। इन्ही फोटोन के माध्यम से हर कोशिका में प्रति सेकण्ड लाखों क्रियाएं संभव होती हैं, जहाँ हर क्रिया के लिए सही मात्रा में, सही जगह और सही समय पर ऊर्जा उपलब्ध हो जाती है। सिद्धान्त रूप में कोहेरेन्ट प्रकाश का एक फोटोन एक कोशिका में 100 करोड क्रियाएं सम्पन्न कर सकता है। फलस्वरूप जीवाश्मों से उत्सर्जित होने वाला जैव फोटोन का अल्प शक्ति वाला प्रकाश भी जीवन के लिए आवश्यक जैव रसायन और जैव वैज्ञानिक क्रियाओं को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाता है। डा. पोप का कहना है कि जीव की शारीरिक क्रियाएं जैव फोटोन रूपी कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और जैविक पदार्थ के बीच एक विशिष्ट अंतःक्रिया से नियंत्रित हैं। इस विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और जैविक पदार्थ के बीच एक स्थायी व्यवस्था है जिसके अर्न्तगत विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र यह निर्देशित करता है कि जैविक पदार्थ में कहाँ और कब क्रिया होगी। इस प्रकार जैव भौतिकी की दृष्टि से शरीर की जटिल क्रियाएं जैव फोटोन द्वारा ही नियंत्रित हैं।

हमारे शरीर में दो प्रकार की जैव शक्ति है–

(1). जैव विद्युत ऊर्जा और

(2). जैव विद्युत करंट।

जैव विद्युत ऊर्जा जैव फोटोन के कारण है। यह एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र है जिसका प्रवाह प्रकाश की गति से होता है। जैव विद्युत करंट आयन्स का प्रवाह है और इसकी गति बहुत धीमी होती है। वैज्ञानिकों का मानना है कि जैव प्रकाश उत्सर्जन विजीबल रेन्ज में ही नही बल्कि ऊँचें तरंग दैर्ध्य पर भी होता है। इस बात का संकेत सामान्य कोशिकाओं और केंन्सर ग्रस्त कोशिकाओं पर प्रयोगों द्वारा मिला है। प्रयोग में पाया गया कि केंन्सर ग्रस्त कोशिकाओं से बायो फोटोन उत्सर्जन बहुत कम हो जाता है और वे सूचना प्रसारण करने में असमर्थ हो जाती हैं। अधिक तरंग दैर्ध्य वाले जैव फोटोन की सहायता से जीवाश्म अधिक दूरी तक सूचना प्रसारण कर सकते हैं। इससे कोशिकाओं में परस्पर संप्रेषण बन पड़ता है तथा जीव और वातावरण के बीच भी संप्रेषण संभव हो जाता है। इस प्रकार जीव इस विश्व में अकेला और अलग नही है, बल्कि आपस में संप्रेषण करते हुए इस अखिल ब्रह्माण्ड का एक हिस्सा है। यह इस बात का संकेत है कि संप्रेषण की दृष्टि से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक इकाई है और हम सब उसके घटक हैं। जिस प्रकार कोई एक कोशिका शरीर की सभी अन्य कोशिकाओं के लिए अपना निर्धारित कार्य करती है उसी प्रकार कोई एक जीव केवल अपने लिए ही नही वरन् लोक के अन्य जीवों के लिए भी अपनी भूमिका का निर्वहन करता है। इस प्रकार लोक की एक सामुहिक चेतना सिद्ध होती है।

परमाणु के घटक कण फोटोन, प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन, आदि स्वाभवतः दो अवस्थाओं में पाये जाते हैं एक कण रूप में और दूसरा तरंग रूप में। ये कण कम्पन करते रहते हैं और इनकी कम्पन आवृति इनके तापमान पर निर्भर करती है। जब ये तरंग रूप में अवस्थित होते हैं तो इनके स्पन्दन समस्त बह्माण्ड में व्याप्त होते हैं। इस प्रकार कोई एक कण सृष्टि के सभी घटक कणों से सम्पर्क बनाए रखता है। कणों के बीच इस प्रकार के संबंध से सृष्टि के किन्हीं दो खण्डों के बीच सूचना का आदान प्रदान संभव है, हमारा शरीर भी समस्त ब्रह्माण्ड से संबंध बनाए रखता है। हमारें शरीर की कोशिकाएं ब्रह्माण्ड में व्याप्त इस ऊर्जा क्षेत्र से जैव फोटोन ग्रहण करती है और उन्हें संग्रहीत भी करती हैं। परमाणु में स्थित इलेक्ट्रॉन का भी यह गुण है कि वह फोटोन को सोखता है और उत्सर्जित भी करता हैं। डी.एन.ए. कणों में इलेक्ट्रॉन की बहुतायत होती है अतः वे जैव फोटोन के अच्छे भंडार हैं। प्रत्येक जैव फोटोन एक विशिष्ट आवृति से स्पन्दन करता है। अब यह माना जाने लगा है कि जैव फोटोन की यह आवृति रेजोनेन्स पद्धति से डी.एन.ए. में उपस्थित जीन की क्रम व्यवस्था को क्रियाशील करती है। रेजोनेन्स पद्धति को समझने के लिए गिटार का उदाहरण ले। मान ले गिटार के दो तार एक ही कम्पन गुण वाले हैं। जब एक तार को छेडा जाता है तो उस तार से निस्सृत होने वाली तरंगें दूसरे तार में भी उसी प्रकार के कम्पन पैदा कर देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि रजोनेन्स प्रक्रिया से विशिष्ट कम्पन आवृति की सूचना एक तार से दूसरे तार, जो समान गुण वाले हैं और दूर–दूर हैं, तक पहुँच जाती है। इसी तरह एक जैव फोटोन की कम्पन सूचना दूसरे जैविक फोटोन तक पहुँच जाती है और दूसरा फोटोन भी पहले फोटोन की तरह कम्पन करने लग जाता है, चाहे वे दो फोटोन एक ही कोशिका में हो या अलग अलग कोशिका में हो। इस प्रकार प्रत्येक फोटोन सम्पूर्ण शरीर से संबंध बनाए रखता है।

कोशिका जैव फोटोन, इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन परमाणु कण की दो संभावित अवस्थाओं के बीच साझा धरातल का काम भी करती है। यहाँ जैव फोटोन, इलेक्ट्रॉन या प्रोटोन तरंग अवस्था से कण अवस्था में परिवर्तित होते हैं। एक फोटोन में यह शक्ति होती है कि वह परमाणु के केन्द्र की परिक्रमा कर रहे इलेक्ट्रॉन को अपनी कक्षा से अलग कर दे। इलेक्ट्रान में समाहित फोटोन में कम्पन होने से इलेक्ट्रान क्रियाशील हो जाता है और गति करता है। कोशिका में स्थित आर.एन.ए., रिबोसोम और मिटोकोन्ड्रिया से अलग हुए इन इलेक्ट्रॉन को निर्देशित किया जाता है कि वे आवश्यकतानुसार कोशिका में अन्यत्र चल रहे चयापचय (मेटाबोलिज्म) कार्य में भाग लें। एन्जाइमस इन इलेक्ट्रॉन कणों को ग्रहण करते हैं और उन्हें प्रोटीन अणुओं को

प्रेषित करते हैं जिससे कि प्रोटीन अणु अपना विशिष्ट कार्य सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार एक जैव फोटोन के आवृति गुण से शरीर की सारी क्रियाएं नियंत्रित हो जाती हैं।

जब इलेक्ट्रान का प्रवाह एक बन्द सरकिट में होता है तो उससे विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की सृष्टि होती है और यह विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र फोटोन कणों से बना होता है। हमारे शरीर में इस प्रकार के अनेक बन्द सरकिट हैं और इनमें इलेक्ट्रॉन के प्रवाह से अनेक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की रचना होती है। जिस प्रकार बन्द सरकिट में इलेक्ट्रान का प्रवाह विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र बनाता है उसी प्रकार विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र भी इलेक्ट्रान का प्रवाह पैदा करता है। इस प्रकार शरीर में इलेक्ट्रान और फोटोन के बीच लेनदेन चलता रहता है और वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इलेक्ट्रान और फोटोन का यह प्रवाह शरीर के समस्त जैविक रसायन क्रियाओं को सम्पन्न करता है।

उपरोक्त से यह स्पष्ट होता है कि जैव फोटोन की आवृति रजोनेन्स क्रिया से शरीर में इलेक्ट्रान का प्रवाह होता है और उससे समस्त जैविक रसायन क्रियाएं सम्पन्न होती हैं। ये रेजोनेन्स आवृति शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में तीव्र गति से यात्रा कर सकती है और कोई भी फोटोन शरीर में कहीं भी अन्यत्र आवश्यकतानुसार रसायन क्रिया को सम्पादित कर सकता है। यदि किसी कारण से रेजोनेन्स आवृति की यह यात्रा बाधित हो जाती है तो कोशिकाएं रूग्ण हो सकती हैं।

पश्चिमी देशों में जैव फोटोन प्रकाश थैरेपी का तरीका भी खोज लिया गया हैं। जर्मनी में बनी बायो फोटोन II PT 3D हाइपर–रेड मशीन एक प्रकार की लेजर किरणें उत्पन्न करती है। 660 नेनोमीटर आवृति वाली प्रकाश किरणों के 128 पुंज, जिनमें प्रत्येक की शक्ति 8 से 10 मिलीवाट होती है, मशीन द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। इन प्रकाश पुंजों को विस्तृत आवृति किरणों के रूप में परिवर्तित किया जाता है और उन्हें शरीर के उस हिस्से पर जहाँ थैरेपी देनी है, कुछ मिनटों तक निर्देशित किया जाता है। इस थैरेपी से अस्थि रोग या जोडों में दर्द का निवारण किया जाता है। चेहरे, सिर, त्वचा आदि के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है। जैव फोटोन थैरेपी का उपयोग दर्द निवारण, प्रतिरोधक क्षमता में आयें विकारों को दूर करने और थकान मिटा कर शरीर को ऊर्जामय बनाने में किया जा रहा है।

9.3 कुछ नवीनतम शोध परिणाम

1. एम. स्यू बेनफोर्ड (1999) ने बताया कि स्पर्श चिकित्सा से सभी रोगियों में

गामा रेडिएशन काफी मात्रा में कम हो गया और यह प्रभाव शरीर के हर भाग में देखा गया। डा. जॉन जीमरमान (1997) ने अपने परीक्षण में पाया कि स्पर्शचिकित्सा, ध्यान और योग अभ्यास के दौरान रोगी के शरीर के चारों तरफ विस्तृत आवृति घट बढ़ वाला जैव चुम्बकीय फील्ड उपस्थित है जिसकी शक्ति मनुष्य में सामान्यतया पाये जाने वाले सबसे शक्तिशाली जैव चुम्बकीय फील्ड से एक हजार गुना अधिक है। ये उत्सर्जन 2–50 हर्ट्ज की रेन्ज के थे जो प्रयोगशाला में चिकित्सकों द्वारा कुछ ऊतको के रोग उपचार के लिए काम में लिए जाते हैं। डा. एलमर ग्रीन (1996) ने बिना स्पर्श वाली रेकी चिकित्सा में शरीर में 4 से 190 वोल्ट का ऋण विद्युत प्रभव की सर्जेज रिकार्ड की जिसकी सामान्य स्थिति में व्याख्या नहीं की जा सकती। टनाका (2001) ने अपने परीक्षण में पाया कि किगांग योगी की ऊर्जा प्रसारित करने वाली हथेली का तापमान घट गया जबकि दूसरी हथेली में ऐसा नहीं हुआ। इसी प्रकार चिकित्सा पाने वाले व्यक्ति की उस हथेली में जिसमें ऊर्जा ग्रहण की जा रही थी तापमान बढ गया।

2. नाकामुरा (2000) ने पाया कि किगांग योगी के अभ्यास के समय उसके हाथ का तापमान कम हो गया और बायो फोटोन का उत्सर्जन बढ गया। युनीन वालेस (2000) ने पाया कि जब मनुष्य अधिक ऊर्जा उत्सर्जन की भावना करते है तो उनके शरीर से निकलने वाले फोटोन की मात्रा बढ जाती है। हिरोशी मोटोयामा ने पाया कि कई वर्षों से योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति के शरीर से प्रकाश का उत्सर्जन कम हो जाता है। डा. झोंग रोनलियांग ने देखा कि किगांग योगी के शरीर से ऐसी किरणें निकलती हैं जिसकी केरियर तरंगें बहुत कम आवृति वाली हैं।

3. डान विन्टर ने उस जगह का जहाँ लोग सद्भावना ध्यान कर रहे थे भू–चुम्बकीय शक्ति स्पैक्ट्रम मापा और उसने पाया कि ध्यान से यह बदल जाता है।

4. किगांग प्रशिक्षक और शिष्यों में अभ्यास के समय विस्तृत शक्तिशाली अल्फा तरंगें निकलती देखी गई हैं। ज्यों–ज्यों शिष्यों का अभ्यास बढ़ता जाता है तरंगों का तरंग दैर्ध्य भी बढ़ता है।

5. डा. केनेथ (1996) ने पाया कि किगांग अभ्यास के दौरान प्रशिक्षक और शिष्य की मष्तिष्क तरंगों में प्रकृति और स्थल का सही ताल–मेल है। यदि शिष्य अंधा है तब भी ऐसा ही ताल–मेल पाया गया। अन्य परीक्षण में पाया गया कि किसी व्यक्ति की भावनाओं का प्रभाव एक दूर बैठे व्यक्ति के शरीर पर, चाहे वह यह जानता है या नही, होता है।

6. किगांग चिकित्सक द्वारा, चाहे वह स्पर्श करे या दूर रहे, ध्यान करने पर

रोगी का रोग प्रतिरोधक तंत्र शक्तिशाली हो जाता है, ऐसा परीक्षण में पाया गया।

9.4 समीक्षा

शरीर में स्नायुतंत्र, मांसपेशियां, हृदय आदि का कार्य जैव विद्युत से सम्पन्न होता है। जैव विद्युत की अधिकता ही मनुष्य को प्रतिभाशाली, विद्वान, मनीषी और बुद्धिमान बनाती है। जैव विद्युत भौतिक विद्युत से भिन्न है। भौतिक बिजली का जैव विद्युत में परिवर्तन नहीं हो सकता परन्तु दोनों का सम्मिश्रण बन सकता है। जैव विद्युत भौतिक विद्युत की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक बलशाली है। जैव वैद्युतीय प्रकम्पनों के बिना मनुष्य किसी प्रकार की सुख संवेदना का अनुभव नही कर सकता। ऐसे कम्पनों की सहायता से बिना साधनों के भी सुख की अनुभूतियाँ पैदा की जा सकती हैं।

वायुमण्डल में विद्यमान विद्युत विभव मानव शरीर को प्रभावित करता है, शरीर की जैव विद्युत की आपूर्ति के लिए यह अति आवश्यक है। मनुष्य के क्रिया कलाप विद्युतीय क्षेत्रों और चुम्बकीय तरंगों से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। मानवी चुम्बकत्व पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण शक्ति के कारण माना गया है। चुम्बकत्व के आधिक्य से मनुष्य में आकर्षण पैदा होता है, सुन्दरता बढ़ती है। मानवी काया को चुम्बकीय ऊर्जा तरंगों का भंवर माना जाता है। अंतरिक्ष में संव्याप्त अनुदान मनुष्य अपने चुम्बकत्व द्वारा ही स्वीकार करता है।

वैज्ञानिकों द्वारा जैव प्रकाश की खोज को आध्यात्मिक जगत के लिए अब तक की सबसे महत्वपूर्ण खोज कहा जा सकता है। यह जैव प्रकाश सूर्य प्रकाश से भिन्न प्रकृति का है और कोहेरेन्ट गुण वाला है अर्थात् जैव प्रकाश में लेजर किरणों के गुण हैं। इसके कारण एक जीवित कोशिका विद्युत की सुपर संचालक होती है और अल्पतम अपव्यय के साथ सौर ऊर्जा और अन्य ऊर्जा का उपयोग करती है। वैज्ञानिकों ने पाया कि जीवित शरीर में एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र व्याप्त रहता है जो जैव फोटोन से बना होता है। ये जैव फोटोन विभिन्न आवृति वाले होते हैं और इनकी उपस्थिति इन्फ्रारेड से अल्ट्रा–वायलेट रेन्ज तक देखी गई है। परन्तु वैज्ञानिकों का मानना है कि जैव फोटोन का स्पैक्ट्रम इससे भी अधिक विस्तृत है। इन्हीं जैव फोटोन की सहायता से हर कोशिका में प्रति सेकण्ड लाखों क्रियाएं संभव होती हैं। अणु शरीर की विभिन्न क्रिया में भाग तो लेते है परन्तु उनका अपना कोई ज्ञान नही होता, उनकी क्रिया जैव फोटोन द्वारा निर्देशित होती है। जैव फोटोन ही हर क्रिया के लिए सही मात्रा में, सही जगह और सही समय पर ऊर्जा उपलब्ध कराते हैं। जैव फोटोन की

कार्य पद्धति रेजोनेन्स सिद्धान्त पर आधारित है। एक फोटोन में यह शक्ति होती है कि वह परमाणु के केन्द्र की परिक्रमा कर रहे इलेक्ट्रान को अपनी कक्षा से अलग कर दे। कोशिका में स्थित नाभिक और मिटोकोन्ड्रिया से अलग हुए इलेक्ट्रानस को निर्देशित किया जाता है कि वे अन्यत्र चल रही रासायनिक क्रिया में भाग लें। एक जैव फोटोन एक कोशिका में 100 करोड क्रियाएं सम्पन्न कर सकता है। कोई भी फोटोन शरीर में कही भी अन्यत्र आवश्यकतानुसार रसायन क्रिया को सम्पादित कर सकता है। इस प्रकार जैव फोटोन शरीर की सम्पूर्ण क्रियाएं नियंत्रित करते हैं।

जैव फोटोन द्वारा जीवात्मा और वातावरण के बीच भी संप्रेषण संभव है। इस प्रकार जीव इस विश्व में अकेला और अलग नहीं है बल्कि वह इस अखिल ब्रहमाण्ड का एक हिस्सा है। कोई एक जीव केवल अपने लिए ही नही वरन् लोक के अन्य जीवों के लिए भी अपनी भूमिका का निर्वहन करता है। यह सब सूक्ष्म स्तर पर होता है, मनुष्य को इसका ज्ञान नहीं होता। योगाभ्यास से शरीर से प्रकाश का उत्सर्जन कम हो जाता है और प्रकाश का तरंग दैर्ध्य भी बढ़ जाता है।

9.5 संदर्भ

1. काया में समाया प्राणाग्नि का जखीरा — पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
2. काय ऊर्जा एवं उसकी चमत्कारी सामर्थ्य — पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
3. क्या विद्युत सचित तेउकाय है? — प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
4. विभिन्न वेबसाइट्स

अध्याय 10

तैजस शरीर और कार्मण शरीर का वैज्ञानिक स्वरुप

10.1 वर्तमान परिदृश्य

जैन आगमों में तैजस शरीर और कार्मण शरीर का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार तैजस शरीर को तैजस वर्गणाओं से बना विद्युत शरीर माना गया है। इस शरीर का स्वरुप क्या है और यह केसे कार्य करता है इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। यह भी कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है कि तैजस शरीर का कार्य क्या है? वैदिक साहित्य और योग शास्त्र में सूक्ष्म शरीर का वर्णन किया गया है और इसे पंचकोशों से बना माना गया है। अध्याय पांच में बताया गया है कि ये पंचकोश मनुष्य की पंञ्चधा प्रकृति है जो शरीराभ्यास, गुण, विचार, अनुभव और सत के रुप में है। ये पाँच प्रकार की चेतना आत्मा के साथ सर्वदा बनी रहती है। जैन आगामों में लेश्या का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यह माना गया है कि लेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण होता है जिनमें वर्ण की प्रधानता रहती है। रंगों के आधार पर लेश्या के भेद किए हैं। यह भी माना गया है कि लेश्या सूक्ष्म शरीर और औदारिक शरीर के बीच सर्म्पक सूत्र का कार्य करती है।

कार्मण शरीर को कार्मण वर्गणाओं से बना सूक्ष्म शरीर माना गया है। कार्मण शरीर तैजस शरीर से भी सूक्ष्म है और आत्मा के सबसे निकट है। कार्मण वर्गणा समस्त लोक में व्याप्त है। आत्मा में हो रहे परिस्पन्दन के कारण कर्म वर्गणाएँ आत्मा की ओर आकर्षित होती हैं और योग तथा कषाय का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाती हैं और कर्म बन जाती हैं। ये कर्म मुख्यतया आठ प्रकार के हैं। किन कारणों से किसी एक प्रकार के कर्म का बंध होता है, उस कर्म का विपाक कब और कैसे होता है तथा विपाक होने पर वह क्या फल देता है, इसका विस्तृत विवरण आगमों में पाया जाता है। संवर और निर्जरा के बारे में विस्तृत विवरण आगमों में प्राप्त होता है। परन्तु कार्मण शरीर का स्वरुप क्या है, एक प्रकार की कार्मण वर्गणा से आठ प्रकार या अनेक प्रकार के कर्म कैसे बनते हैं, कर्म बंध और कर्म विपाक की प्रक्रिया क्या है, इनका विवरण कहीं भी प्राप्त नहीं होता। यह भी स्पष्ट नहीं हैं कि कार्मण शरीर का तैजस शरीर और औदारिक शरीर से किस प्रकार का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है। कार्मण शरीर हमारा सबसे महत्वपूर्ण शरीर है और इसके बारे में सबसे कम जानकारी है।

पिछली दो शताब्दी में विज्ञान ने बहुत प्रगति की है। विज्ञान ने प्रकृति के

ऐसे अनेक रहस्य उजागर किए हैं जो हमारी शरीर संरचना पर प्रकाश डालते हैं। पूर्व अध्यायों में इस विषय पर महत्वपूर्ण शोध परिणामों का उल्लेख किया गया है। ये वैज्ञानिक निष्कर्ष तैजस शरीर और कार्मण के बारे में उपरोक्त प्रश्नो का समाधान करनें में बहुत सहायक हैं। हम इसी प्रकार का एक विनम्र प्रयास यहाँ कर रहे हैं। हमारे शरीर संबंधी जो मॉडल नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है वह वस्तुतः सूक्ष्म स्तर का है और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो ज्ञानीजन अपने विशिष्ट ज्ञान से ही करने में सक्षम हो सकते हैं। पर जो मॉडल यहाँ प्रस्तुत किया गया है वह तर्को पर आधारित है और बुद्धिगम्य हैं। मेरा मानना है कि इसका वैज्ञानिक आधार कर्म सिद्धान्त के अज्ञात पहलुओं की विश्वसनीय व्याख्या करता है।

10.2 तैजस शरीर और कार्मण शरीर का स्वरुप

संसारी आत्मा में परिस्पन्दन होता है। ये स्पन्दन कषाय और योग के कारण होते हैं। कषाय और योग की तीव्रता और मंदता से स्पन्दन भी तीव्र और मंद होते हैं। मुक्त आत्मा में कोई परिस्पन्दन नहीं होता है। संसारी आत्मा हमेशा कार्मण शरीरधारी होती है। शुद्ध आत्मा अमूर्त होते हुए भी अशुद्ध अवस्था में मूर्त रूप मानी गई है, यह मूर्त गुण कार्मण शरीर के कारण ही है। इसलिए आत्मा के परिस्पन्दन का तात्पर्य यही है कि मूर्त जगत में कषाय और योग से कार्मण शरीर में परिस्पन्दन होता है। मुक्त अवस्था में कार्मण शरीर नहीं होता अतः स्पन्दन भी नहीं होता। कार्मण शरीर के स्पन्दन के कारण वायुमण्डल में व्याप्त कार्मण वर्गणा कार्मण शरीर की ओर आकर्षित होती है। कर्म बंध की प्रक्रिया में यह पहला कदम है।

कार्मण शरीर और तैजस शरीर हमेशा आत्मा के साथ बने रहते हैं। आत्मा तो अमूर्त है अतः इसका तात्पर्य यही है कि मूर्त कार्मण शरीर और तैजस शरीर हमेशा साथ–साथ रहते हैं। जब तक आत्मा मुक्त नहीं हो जाती ये दोनो शरीर एक दूसरे का साथ नहीं छोडते। इन दोनो शरीर से जो मूर्त रचना बनती है आत्मा उसी में समायी रहती है।संसार अवस्था में तो कार्मण शरीर और तैजस शरीर औदारिक शरीर में घुले– मिले रहते हैं परन्तु अन्तराल गति में केवल ये दो शरीर ही होते हैं। प्रश्न उठता है कि अन्तराल गति में ये दोनो शरीर अलग–अलग क्यों नहीं हो जाते, बिखर क्यों नहीं जाते? अवश्य ही ऐसी कोई व्यवस्था है कि तैजस शरीर और कार्मण शरीर अलग हो ही नहीं सकते। आइये इस प्रश्न पर विचार करें।

तैजस शरीर विद्युत रुप माना गया है। यहाँ विद्युत का अभिप्राय जैव विद्युत ही होना चाहिए जो हमारे शरीर में व्याप्त है। हमने पूर्व में देखा कि जैव विद्युत का

स्रोत प्राण यानि तैजस वर्गणा है। प्राण पंचकोश या ऊर्जा शरीरों का भाग है। अतः पंचकोश ही तैजस शरीर है, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। योगशास्त्र के अनुसार मृत्यु होने पर ये पंचकोश स्थूल शरीर से निकल कर गमन करते हैं और नई योनि में प्रवेश करते हैं। तैजस शरीर की भी यही गति मानी गई है। विज्ञान के अनुसार पंचकोश विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा से बने हैं। इस प्रकार तैजस शरीर केवल विद्युतीय न होकर विद्युत चुम्बकीय है। संसार अवस्था में स्थूल शरीर से निकलने वाले विकिरण और उत्सर्जन भी तैजस शरीर के साथ मिल जाते हैं और दोनों का मिला जुला रुप ही आभामण्डल कहलाता है। अन्तराल गति में स्थूल शरीर का प्रभाव नहीं रहता है और तैजस शरीर विद्युत चुम्बकीय ही होता है।

यदि तैजस शरीर विद्युत चुम्बकीय है तो कार्मण शरीर कैसा होगा? आगमों से यही भान होता है कि कार्मण शरीर कार्मण वर्गणाओं से बना है जो पुदगल रुप है। क्या कर्म कण रुप में है? ऐसा मानने में कठिनाई यह होगी कि अन्तराल गति में ये कण, चाहे वे कितने ही सूक्ष्म हो, तैजस शरीर के साथ कैसे रह सकते है? यदि अन्तराल गति में कर्म को तरंग के रुप में मान लिया जाए तो यह कठिनाई नहीं होती है। इस तरंग की प्रकृति भी विद्युत चुम्बकीय होनी चाहिए जिससे कि कार्मण शरीर और तैजस शरीर का सामंजस्य हो सके। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि तैजस शरीर की भाँति कार्मण शरीर भी विद्युत चुम्बकीय है।

यहाँ पर संदेह हो सकता है कि यदि तैजस शरीर और कार्मण शरीर दोनों ही विद्युत चुम्बकीय है तो दोनों में अन्तर क्या है और घुल–मिल कर रहने पर दोनों अपनी पहचान अलग कैसे बनाए रखते है? अतः यह मानना होगा कि दोनों शरीरों के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की प्रकृति भिन्न है। हमने पूर्व में देखा कि हमारी कोशिकाओं द्वारा जो जैव प्रकाश उत्सर्जित होता है वह सूर्य प्रकाश से भिन्न प्रकृति का है। अर्थात, वह चुम्बकीय क्षेत्र जिससे जैव फोटोन बनते हैं सूर्य प्रकाश के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र से भिन्न है। इसी प्रकार तैजस शरीर का विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और कार्मण शरीर का विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र भिन्न प्रकृति के है और दोनों के घुल–मिल जाने पर भी उनकी पहचान अलग–अलग बनी रहती है। ये विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र एक दूसरे को अवकाश देते हैं और स्थूल शरीर में भी एक साथ व्याप्त रहते हैं। एक साथ रहते हुए भी दोनो शरीरों का कार्य अलग–अलग रुप मे सम्पादित होता है। दौनों विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की भिन्न प्रकृतियाँ कैसी हैं यह खोज का विषय है। जैन दर्शन के अनुसार तैजस शरीर अष्टस्पर्शी परमाणु स्कंधों से बना होता है जिसमें भार होता है, विद्युत आवेश होता है, प्रस्फुटन होता है और स्थूल अवसादन होता है। कार्मण

शरीर चतुःस्पर्शी पुदगल स्कंधों से बना होता है जिसमें भार नहीं होता और विद्युत आवेश नहीं होता। इन स्कंधों की गति अप्रतिहत होती है, अस्खलित होती है।

उपरोक्त मान्यता के समर्थन में निम्न तर्क भी सहायक है। यह माना गया है कि अन्तराल गति की अवधि एक से चार समय तक हो सकती है। एक समय की अवधि में जीवात्मा को एक योनि छोडकर अन्यत्र दूसरी योनि में प्रवेश करना होता है। यह तभी सम्भव है जब जीवात्मा अत्यन्त तीव्र गति से गमन करे। दोनों तैजस शरीर और कार्मण शरीर को विद्युत चुम्बकीय अवस्था में माने बिना इस प्रकार की तीव्र गति सम्भव नहीं है। अन्तराल गति में ये दोनों शरीर एक स्वतन्त्र इकाई बनाते हुए वायुमण्डल में व्याप्त प्रकाश के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के सहारे द्रुत गति से गमन करते हैं। प्रकाशीय विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र से इनका सम्मिश्रण नहीं होता है। अतः यह मानना होगा कि तैजस शरीर और कार्मण शरीर के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र प्रकाशीय विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र से भिन्न हैं अर्थात तीनों विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र भिन्न–भिन्न प्रकृति के हैं। हम जानते है कि वायुमण्डल में विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र सूर्य प्रकाश गुण वाला है, तैजस शरीर के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र से ऊर्जा शरीर बनता है और दोनों इस प्रकार भिन्न हैं। हमारे शरीर में एक तीसरे प्रकार का विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र जिसे जैव प्रकाश कहा गया है वैज्ञानिकों द्वारा यह पाया गया है। क्या यह जैव प्रकाश कार्मण शरीर की परिणति है? मेरा ऐसा मानना है कि संभवतया ऐसा ही है। जैव प्रकाश को उत्पन्न करने वाला विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र, जो वैज्ञानिकों द्वारा भी एक विशिष्ट प्रकृति का माना गया है, कार्मण शरीर से सम्बन्ध रखता है। इस मान्यता के समर्थन में और भी तर्क नीचे दिए गये हैं।

10.3 कर्म बंध की प्रक्रिया

कार्मण वर्गणा समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। यह वर्गणाओं में सूक्ष्मतम वर्गणा है और अदृश्य है। कार्मण वर्गणा का स्वरुप क्या होना चाहिए? सूर्य प्रकाश भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और वहाँ उसका स्वरुप तरंगीय है। अतः कार्मण वर्गणा का सामान्य स्वरुप तरंग रुप में ही होना चाहिए, इसी रुप में यह लोकाकाश में व्याप्त हो सकती है। सूर्य प्रकाश अनेक प्रकार की तरंगों से मिलकर बना है, इन तरंगों का तरंगदैर्ध्य अतिसूक्ष्म (नेनोमीटर का एक छोटा अंश) से लेकर अति दीर्घ (कुछ मीटर) तक होता है। तरंगदैर्ध्य के भेद से इन तरंगों के गुण भी अलग–अलग होते हैं। इसी प्रकार यह माना जा सकता है कि कार्मण वर्गणा तरंगें भी अनेक आवृति वाली होती हैं और आवृति भेद से इनके गुण अलग–अलग होते हैं। सूर्य प्रकाश की किरणें एक

छोटी आवृति रेन्ज में दृश्य है और शेष रेन्ज में अदृश्य हैं परन्तु कार्मण वर्गणा तरंगें पूरी रेन्ज में अदृश्य हैं। सूर्य प्रकाश की अवस्थिति तरंग रुप में भी होती है और कण (फोटोन) रुप में भी होती है। जब प्रकाश गमन करता है तो तरंग रुप में होता है और जब अन्य पदार्थ के साथ क्रिया करता है तो कण रुप में माना जाता है। इसी प्रकार यह माना जा सकता है कि लोकाकाश में व्याप्त कार्मण वर्गणा तरंग रुप में है और जब कार्मण वर्गणा को क्रिया करनी होती है तो यह कण रुप में परिवर्तित हो जाती है।

कार्मण वर्गणा की प्रकृति जानने के बाद अब यह देखें कि कर्म बंध कैसे होता है। योग और कषाय के प्रभाव से कार्मण शरीर, जो विद्युत चुम्बकीय प्रकृति का है, में कम्पन्न होता है। कम्पन्न की आवृति कषाय और योग की प्रकृति पर निर्भर करती है। क्रोध, ईर्ष्या, निंदा, हर्ष, शोक, हिंसा, प्रेम, दया, करुणा आदि भावों में जो कार्मण शरीर के कम्पन्न की आवृति होगी वह भिन्न–भिन्न होगी।प्रत्येक भाव दशा में भी भावों की तीव्रता और मंदता के अनुरुप कम्पन्न की शक्ति भिन्न–भिन्न होगी, तीव्र भाव में कम्पन्न शक्तिशाली होगें और मंद भाव में अल्प शक्ति वाले होगें। कार्मण वर्गणा का यह स्वभाव है कि वह कार्मण शरीर की तरफ आकृष्ट होती है। जिस आवृति का कम्पन्न कार्मण शरीर में होता है उसी आवृति की कार्मण वर्गणाएँ आकर्षित होती हैं। कार्मण शरीर से मिलने पर कार्मण वर्गणाएँ कण रुप में परिवर्तित हो जाती हैं। कार्मण वर्गणाओं के ये कण कार्मण शरीर मे पूर्व में विद्यमान अपने सजातीय कणों के साथ श्लिष्ट हो जाती है। कणों का श्लिष्ट होना कोई रासायनिक क्रिया नहीं है। एक ही जाति के कण आपस में संबंध बनाते हुए समूह के रुप में स्थित रहते हैं। यही बंध कहलाता है।कितने कणों का बंध होगा यह कार्मण शरीर के कम्पन्न की शक्ति पर निर्भर करेगा। कम्पन्न अधिक शक्तिशाली होने पर अधिक कर्म बंध होगा और कम्पन्न के अल्प शक्ति की अवस्था में अल्प कर्म बंध होगा। यह बंध सभी आत्म प्रदेशों पर होगा और एक समान होगा। कार्मण शरीर के कर्म परमाणुओं को संगठित रखने में संभवतया तैजस शरीर का भी योगदान रहता है। तैजस शरीर की विद्युत शक्ति विद्युत चुम्बकीय कर्म परमाणुओं को एक शरीर रुप में व्यवस्थित होने में सहायता कर सकती है।

अब यह समझना सरल है कि विभिन्न प्रकार के कर्मो का बंध कैसे होता है। आवृति भेद से कर्म वर्गणाओं के गुण बदल जाते हैं। जिस प्रकार आवृति भेद से सूर्य प्रकाश का रंग बदल जाता है, उसी प्रकार एक विशिष्ट आवृति रेन्ज में दर्शनावरणीय कर्मों का बंध होगा, अन्य आवृति रेन्ज में ज्ञानावरणीय कर्मों का बंध

होगा और इस प्रकार सभी आठ प्रकार के कर्म बंध को समझा जा सकता है। एक आवृति रेन्ज में भी आवृति भिन्नता से किसी एक प्रकार के कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ बन जाती हैं। एक ही आत्म प्रदेश पर सभी प्रकार के कर्मों का बंध होता है और प्रत्येक प्रकार के कर्म गुण–भेद से अपना–अपना समूह बनाए रहते हैं। इस प्रकार एक आत्म प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म होते हैं।

उपरोक्त में प्रदेश बंध और प्रकृति बंध की व्याख्या की गई है। स्थिति बंध और अनुभाग बंध कैसे होता है? इसका निर्णय संभवतया आत्मा ही करती है। आत्मा ज्ञानात्मक है और उसके पास ही इसका लेखा–जोखा रहता है कि अमुक कर्म की स्थिति क्या होगी और विपाक के समय उसके रस की तीव्रता कितनी होगी। आत्मा एक निष्पक्ष शास्ता की तरह कार्य करती है और अपने प्रति भी सभी नियमों को सच्चाई से और कडाई से लागू करती है। असंख्य प्रकार के कर्मो का लेखा–जोखा रखना, आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है।

10.4- कर्म की अवस्थाओं में परिवर्तन

कर्म की अवस्थाओं में परिवर्तन के निर्णय संभवतया आत्मा के द्वारा ही किए जाते है। ये निर्णय भौतिक रुप में कैसे क्रियान्वित होते है, इसको समझा जा सकता है। आत्मा ये निर्णय क्यों लेती है इसको एक उदाहरण से समझ सकते है। मान लीजिए एक प्रधान मंत्री है। सारी शक्ति, संवैधानिक अधिकार आदि उसमें केन्द्रित हैं। परन्तु उसके कुछ मंत्री गण या अन्य प्रभावशाली व्यक्ति एक काकस या प्रभाव समूह का निर्माण कर लेते है। प्रधान मंत्री को समस्त सूचनाओं का आदान–प्रदान इस काकस के माध्यम से होता है और यदि यह काकस निष्पक्ष नहीं है तो वह सूचनाओं की छटनीं कर सकता है, उनमें हेर–फेर कर सकता है, और सूचनाओं को अपने स्वार्थ के लिए तोड–मरोड सकता है। प्रधान मंत्री यद्यपि निष्पक्ष है परन्तु वह जैसी सूचना उसके पास पहुँचती है वैसे ही निर्णय लेता है। ये निर्णय प्रधान मंत्री की दृष्टि से निष्पक्ष होते हुए भी सही नहीं होते हैं और उसका परिणाम देश को भोगना पडता है। इस व्यवस्था में सत्ता के दो केन्द्र बन जाते हैं, एक प्रधान मंत्री का और दूसरा काकस का। असली सत्ता प्रधान मंत्री के पास ही है, परन्तु जब तक काकस बना रहता है उसके पास भी सत्ता का केन्द्र बना रहता है जो असंवैधानिक है परन्तु प्रभावी है। सता के ये दो केन्द्र द्वंदात्मक हो जाते हैं और उनमें आपस में शक्ति और अधिकारों का द्वन्द चलता रहता है।

हमारी आत्मा का शुद्ध अंश प्रधान मंत्री है और कार्मण शरीरधारी अशुद्ध

जीवात्मा काकस है। हर प्राणी में एक अंश, चाहे वह कितना ही न्यून हो, शुद्ध चेतना का रहता है। समस्त शक्तियाँ और ज्ञान आत्मा में निहित हैं परन्तु कार्मण शरीर के कारण वे सीमित हो जाती हैं। कार्मण शरीर के रंग से रंगी हुई सूचना आत्मा के पास पहुँचती है और आत्मा उसी के अनुसार अपनी दृष्टि से निष्पक्ष निर्णय करता है। निर्णय जैसा भी है उसका परिणाम शरीर और मन को भोगना पडता है। यद्यपि जीवात्मा कार्मण शरीर के माध्यम से सूचनाओं को रंगने का कार्य करता है परन्तु निष्पक्ष और शुद्ध न्यायकारी चैतन्य आत्मा जीवात्मा को उसके अच्छे और बुरे कार्य का पुरस्कार या दण्ड देता है। पुरस्कार और दण्ड के ये निर्णय ही कार्मण शरीर में अवस्थित कर्म की अवस्थाओं में परिवर्तन करते हैं।

जीवात्मा के द्वारा शुभ कार्य करने पर आत्मा कर्मो की स्थिति और अनुभाग में कमी कर देता है, जिसे अपवर्तना कहते है, और अशुभ कार्यों के लिए कर्मो की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि कर देता हैं, जिसे उद्वर्तना कहते हैं। सद्बुद्धि के प्रभाव से यदि जीवात्मा शुभ कार्यो का प्रबल प्रयास करता है तो आत्मा कुछ कर्मो का नियत काल से पूर्व ही उदय की स्थिति उत्पन्न कर देता है परन्तु ऐसा उदय उन्ही कर्मो का हो सकता हैं जिनका विपाक उस समय चल रहा हैं। यह उदीरणा हैं। शुभ प्रयास के प्रचण्ड होने पर आत्मा कर्म प्रकृति में परिवर्तन का भी संयोग प्रदान करता हैं परन्तु यह उस सीमा में ही हो सकता हैं जितना भौतिक नियम से संभव है। कर्म की प्रकृति कार्मण वगणाओं की आवृति से निर्धारित होती हैं। आवृति में कोई बड़ा परिवर्तन करना भौतिक रूप से संभव नहीं हैं। इस प्रकार एक प्रकार की कार्मण वर्गणाओं में उसकी आवृति के निकट वाली आवृति की कार्मण वर्गणाओ में परिवर्तन संभव है परन्तु प्रयत्न करने पर भी दूर आवृति वाली कार्मण वर्गणाओं में परिवर्तन संभव नहीं है। कार्मण वर्गणाओं की प्रकृति में परिवर्तन संक्रमण कहलाता है। यह संक्रमण किसी कर्म विशेष की उत्तर प्रकृति मे ही सम्भव है कर्म की एक मूल प्रकृति को दूसरी मूल प्रकृति में नहीं बदला जा सकता क्योंकि उनकी आवृति में बहुत अन्तर होता है। उपशम, निधत्ति और निकाचना में भी निर्णय आत्मा का ही रहता है।

निर्जरा की प्रक्रिया को भी आसानी से समझा जा सकता है। स्थिति काल के पूरे होने पर या साधना के उपक्रम से बंध कर्म कार्मण शरीर से अलग हो जाते हैं। जिन कर्म परमाणुओं की निर्जरा होनी हैं वे आत्म परिस्पंदन से सक्रिय हो जाते हैं और कार्मण शरीर में कर्म की प्रकृति के अनुसार एक निश्चित आवृति के कम्पन्न होते हैं। इस कम्पन्न से सक्रिय कर्म परमाणु कार्मण शरीर से अलग हो जाते हैं। निर्जरा के साथ–साथ बंध की प्रक्रिया भी चलती रहती हैं। कार्मण शरीर में होने वाले

कम्पन्न से उसी आवृति की कार्मण वर्गणा कार्मण शरीर की और आकृष्ट होती हैं और कषाय तथा योग के निमित से कर्म बंध होता हैं। कर्म निर्जरा और कर्म बंध की प्रक्रिया सतत् चलती रहती हैं, प्रतिक्षण कई कर्मो का बंध होता हैं और कई कर्मो की निर्जरा होती हैं। जो कर्म परमाणु कार्मण शरीर से अलग हो जाते हैं वे सब एकदम शरीर को छोड़ नहीं देते बल्कि अनुभव काल की अवधि के लिए सत्ता में रहते हैं। इस स्थिति में क्या संभावना बनती है, इस पर नीचे विचार किया गया हैं।

10.5 अनुभव काल की व्यवस्था

आगम के अनुसार अनुभव काल में विपाक कर्म सत्ता में रहते हुए फल देते रहते हैं। यह कैसे होता है इसका विवरण शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता। हमें यह ज्ञात है कि कार्मण शरीर से निकलने वाले अध्यवसाय तैजस शरीर के साथ मिल कर लेश्या का निर्माण करते हैं। लेश्या भाव का निर्माण करती हैं और भाव से अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्राव होता है। पंचकोश और ऊर्जा शरीरों के बारे में भी कहा गया है कि मनुष्य के गुण, स्वभाव इन शरीरों में निवास करते हैं। मनुष्य का आभामण्डल भी उसके गुणों का परिचायक है। ये सब तथ्य इस बात का संकेत करते हैं कि वे कर्म जो भावों और गुणों का नियमन करते हैं उदय होने के बाद तैजस शरीर में निवास करते हैं और अनुभव काल तक अपना फल देते रहते हैं।

जो सूचना हमें विज्ञान से प्राप्त होती हैं उस पर भी विचार करें। शरीर की कोशिकाओं के केन्द्रक में स्थित डी.एन.ए. और जीन्स हमारी शारीरिक विशेषताओं को नियंत्रित करते हैं। हमारे शरीर का विकास भी डी.एन.ए. और जीन्स पर निर्भर करता है। जीन्स अनुवांशिकता के वाहक हैं और शरीर का गठन जीन्स के उपर निर्भर करता है। जैन दर्शन में यही कार्य नाम कर्म का बताया गया है। कोशिका के विभाजन से हमारा जीवन चलता है। यदि कोशिका में विभाजन का क्रम बंद हो जाये तो व्यक्ति की मृत्यु हो जायगी। परन्तु वैज्ञानिकों को यह नहीं पता है कि कोशिका का विभाजन क्यों होता है? जैन दर्शन के अनुसार आयुष्य कर्म व्यक्ति की आयु का निर्धारण करता है। तो क्या ऐसा नहीं है कि आयुष्य कर्म के कारण ही कोशिका का विभाजन होता है? संभवतया ऐसा ही होता है। जब तक आयुष्य कर्म सता में रहते हैं कोशिका का विभाजन होता रहता है। आयुष्य कर्म समाप्त होने पर कोशिका का विभाजन बन्द हो जाता है और व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। विज्ञान यह भी बताता है कि कोशिकाओ में होने वाली रासायनिक क्रियाएँ जैव फोटोन द्वारा नियंत्रित हैं। जैव फोटोन ज्ञानात्मक हैं और वे सही मात्रा में, सही जगह और सही समय पर

रासायनिक क्रियाओं के लिए ऊर्जा उपलब्ध करते हैं। कोशिका जब रूग्ण हो जाती हैं तो वे जैव फोटोन उत्सर्जन को प्रभावित करती हैं। अर्थात् व्यक्ति के रोग और वेदना का संबंध जैव फोटोन से हैं। जैन दर्शन में ये गुण वेदनीय कर्म के बताए गये हैं। इस प्रकार यह माना जा सकता हैं कि आयुष्य कर्म, नाम कर्म, वेदनीय कर्म अनुभव काल में कोशिका स्तर पर फल देते हैं। अध्याय एक में भी यह कहा गया था कि अघाती कर्मों का सीधा संबंध पौद्गलिक द्रव्यों से है। यही तथ्य विज्ञान से प्रमाणित होता है।

उपरोक्त तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता हैं कि घाती कर्म अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म जो हमारे भावों के आधार हैं, अनुभव काल में तैजस शरीर में रह कर लेश्या के माध्यम से अपने फल देते हैं। अध्याय पाँच में यह बताया गया हैं कि हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले सभी कारक हमारे आभामण्डल में रंग, रेखा, बिन्दु, रेखाचित्र, स्पन्दन या रश्मियों के रूप में अंकित होते हैं। ये सब रचनाएँ तथा आभामण्डल का रंग हमारी भावनाओं यानि लेश्या पर निर्भर करते हैं। आभामण्डल में जो हमारे भाव और विचार रहते हैं, वे कर्म विपाक के अनुसार प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। इस परिवर्तन प्रक्रिया में पुराने भाव और विचार वाली संरचना आभामण्डल से बाहर प्रवाहित हो जाती है और उसकी जगह नई रचना का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार विचारों और भावों में एक निरन्तरता भी बनी रहती है और किसी एक कर्म विशेष का प्रभाव उसके अपने अनुभव काल तक बना रहता है।

आगम के अनुसार तेरहवें गुणस्थान में घाती कर्मो का क्षय हो जाता है और जीवात्मा को केवल ज्ञान हो जाता है। लेश्या भी तेरहवें गुण स्थान तक ही होती है, चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती। यह भी इस बात का संकेत करता है कि घाती कर्म और लेश्या का आपस मे संबंध है। यह तथ्य भी इस बात का समर्थन करता हैं कि अनुभव काल में घाती कर्म तैजस शरीर मे रह कर फल देते हैं जहाँ लेश्या का निर्माण होता हैं।

अघाती कर्म अर्थात वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म और गौत्र कर्म अपने अनुभव काल मे संभवतया कोशिका स्तर पर कार्य करते हैं। यह कार्य कैंसे सम्पन्न होता है इसके बारे में विचार होना चाहिए। हम यह मान रहे हैं कि कार्मण शरीर विद्युत चुंबकीय प्रकृति का है। वैज्ञानिकों के अनुसार कोशिकाओं में भी एक विशिष्ट प्रकार का विद्युत चुंबकीय क्षेत्र रहता है जिसके कारण जैव फोटोन का उत्सर्जन होता है। हमें यह भी ज्ञात हैं कि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर कर्म बंध होता

है और एक समान होता है अर्थात् कार्मण शरीर का विद्युत चुंबकीय क्षेत्र भी सभी कोशिकाओं में विद्यमान है। तो प्रश्न है कि वैज्ञानिक कोशिका में जिस विशिष्ट विद्युत चुंबकीय क्षेत्र की बात कर रहे हैं क्या वह वस्तुतः कार्मण शरीर ही हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन हैं। परिस्थितियाँ तो "हाँ" के पक्ष में ही हैं। परन्तु यदि उत्तर "ना" भी भी हो तो भी यह तो निश्चित सा लगता हैं कि दोनों प्रकार के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में घनिष्ठ संबंध है। यह तो माना जा सकता है कि जैव फोटोन के उत्सर्जन में कार्मण शरीर का किसी न किसी रूप में हाथ अवश्य है। इस प्रकार जो स्थिति बनती हैं उससे यह स्पष्ट है कि वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म और गोत्र कर्म के विपाक से कोशिकाओं में बायोफोटोन का उत्सर्जन होता है। इन बायोफोटोन को अध्यवसाय माना जा सकता है। ये अध्यवसाय जो विभिन्न प्रकार की रसायनिक क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं और इसके माध्यम से शरीर में वेदना, आयु और विकास प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। अघाति कर्मो का सीधा संबंध शरीर से हैं इसका समर्थन इस बात से भी मिलता हैं कि चौदहवें गुणस्थान तक शरीर भी रहता है और अघाती कर्म भी रहते हैं। जब अघाती कर्मो का क्षय हो जाता है तब जीवात्मा शरीर छोड़ कर सिद्ध हो जाता है।

10.6 सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था

कार्मण शरीर के बारे में विचार स्पष्ट हो जाने पर सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था भी ठीक से समझ में आ जाती है। इस व्यवस्था को चित्र 10.1 में दर्शाया गया है। कषाय और योग के कारण जीवात्मा में आत्म स्पंदन होते हैं। इन स्पंदनों के कारण कार्मण वर्गणा कार्मण शरीर की ओर आकर्षित होती है और कषाय और योग के निमित्त से कर्म बंध होता हैं। कर्म बंध और कर्म विपाक की प्रक्रिया साथ–साथ चलती है और कार्मण शरीर से विद्युत चुंबकीय तरंगे अध्यवसाय के रूप में तैजस शरीर और स्थूल शरीर की ओर बढ़ती हैं। अध्यसाय की एक चैतन्य धारा मस्तिष्क में जाकर चित्त का निर्माण करती है। कार्मण शरीर में अवस्थित संस्कार, स्मृति आदि की प्रतिलिपि चित्त में उतर जाती है। इन्हीं संस्कारों और स्मृतियो को वैज्ञानिक विद्युत चुंबकीय साधनों से उत्तेजित करते हैं जिससे व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। अध्यवसाय की दूसरी धारा जो अघाति कर्मो के विपाक से उत्पन्न होती है कोशिकाओं में क्रिया करती है। इससे जैव फोटोन का उत्सर्जन होता है जो मनुष्य की आयु, शरीर निर्माण, सुख–दुःख आदि का नियंत्रण और नियमन करते हैं। अध्यवसाय की तीसरी धारा जो घाती कर्मो के विपाक से उत्पन्न होती है तैजस शरीर

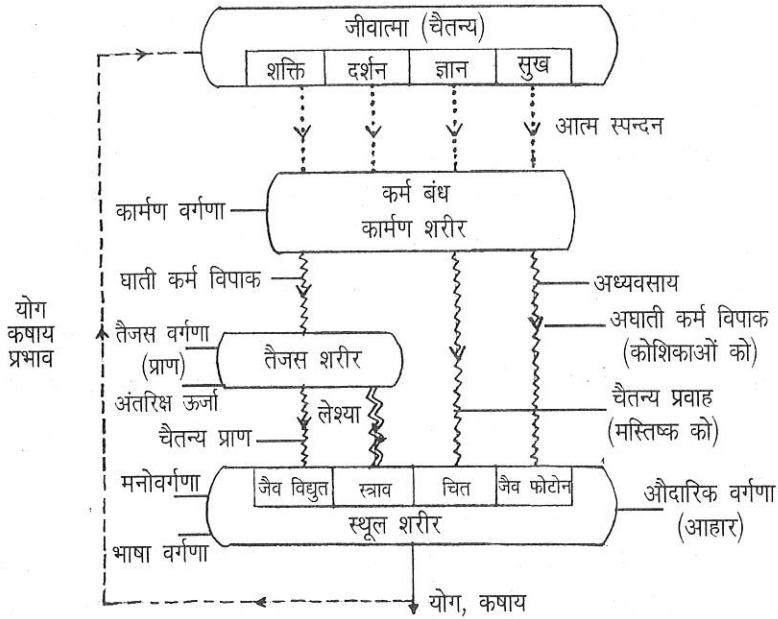

चित्र 10.1 : सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था

से क्रिया करती है और लेश्या का निर्माण करती है। लेश्या से हमारे भाव बनते हैं। द्रव्य रूप में ये भाव वस्तुतः विद्युत रूप में होते हैं। इन भावों की अंतःस्रावी ग्रंथियों से क्रिया होती है और विभिन्न प्रकार से हारमोन्स एवं एनजाइम्स का स्राव होता है जो हमारे शरीर की समस्त भौतिक और मानसिक क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। तैजस शरीर वायुमण्डल से तैजस वर्गणा (प्राण) और अंतरिक्ष से सूक्ष्म ऊर्जा ग्रहण करता है और समस्त शरीर को ऊर्जा प्रदान करता है। इसी से शरीर में जैव विद्युत का प्रवाह होता है जिससे शरीर की विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन होता है। स्थूल शरीर वायुमण्डल से मनोवर्गणा और भाषा वर्गणा को ग्रहण करता है तथा आहार आदि के माध्यम से औदारिक वर्गणाओ को ग्रहण करता है जो शरीर की संरचना और रख–रखाव के लिए आवश्यक हैं।

10.7 समीक्षा

अरिहंतो ने, आचार्यो ने और ऋषियों ने सत्य का साक्षात्कार किया। उस सत्य को लोक कल्याण के लिए सूत्र रूप में शब्दों में व्यक्त किया। पूर्ण सत्य को अनुभव किया जा सकता हैं, व्यक्त नहीं किया जा सकता। सत्य तो असीम है परन्तु

व्यक्त करने पर विचारों और शब्दों की सीमा आ जाती है। फिर सूत्रों के आधार पर सत्य को कैसे ग्रहण करें? यह प्रक्रिया व्यक्तिगत है और सबके लिए पृथक्–पृथक् है। जो भी व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है उसे वही प्रक्रिया अपनानी होगी जो अरिहंतो, आचार्यों और ऋषियों द्वारा अपनाई गई थी। सत्य सार्वभौम होते हुए भी व्यक्तिगत होता है क्योंकि उसकी अनुभूति स्वयं को ही करनी पड़ती है। ज्ञानियों द्वारा प्रदत्त सूत्र इस अनुभूति में सहायक ही हो सकते हैं। अतः साधकों को सूत्रों को भी ठीक से समझने की आवश्यकता है।

ज्ञान को सम्प्रदाय में नहीं बांटा जा सकता है। ज्ञान किसी भी स्त्रोत से अद्भूत हो, सच्चाई को ही प्रगट करता है। चूंकि सूत्र आंशिक सत्य को ही उजागर करते हैं इसलिए ज्ञान पिपासुओं को सभी स्रोतों से प्राप्त सूत्रों को एक साथ रख कर दृष्टिपात करना होगा और उनमें निहित सत्यअंशों को जोड़–जोड़ कर सत्य की खोज करनी होगी। जैन परम्परा के जिज्ञासुओं को वैदिक परंपरा से परहेज नहीं होना चाहिए और इसी प्रकार वैदिक परंपरा के विद्वानो को भी जैन आगमों को अपनाना चाहिए। ज्ञान पर किसी का एकाधिकार नहीं है, यह तो आत्मा का गुण है, सर्वगत है, और धर्म, संप्रदाय के मतभेदों से परे है।

आगमों और शास्त्रों में प्राप्त ज्ञान का मुख्य स्रोत अध्यात्म ही रहा है। ऋषियों ने, मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि और अतीन्द्रिय ज्ञान के बल पर अनुभूत सत्य को उजागर किया। वर्तमान समय में विज्ञान को ज्ञान का स्रोत माना जाने लगा है। विज्ञान का क्षेत्र अभी तक पदार्थ जगत् तक ही सीमित है जबकि अध्यात्म का क्षेत्र आत्मा रहा है। दोनों में मूलभूत अन्तर होते हुए भी उनमें एक समानता है। दोनों की कार्य प्रणाली कार्य– कारण सिद्धान्त में विश्वास करती है, बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता और हर घटना के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। इस प्रकार दोनो ही क्षेत्र सत्य के अन्वेषक हैं। आज के बुद्धिजीवी लोग विज्ञान को महत्व देते हैं और अध्यात्म को भी तर्क के आधार पर ही समझने का प्रयास करते हैं। इसमें कोई बुराई भी नहीं हैं, जो सत्य हैं वह सभी कसौटियों पर खरा उतरेगा। अतः अध्यात्म और धर्म को विज्ञान की कसौटी पर परखना ही चाहिए, इससे धर्म और अध्यात्म की विश्वसनीयता बढ़ेगी और तार्किक लोगों में आस्था का संचार होगा।

जैन कर्म सिद्धान्त अध्यात्म जगत का एक गूढ़ सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति से वर्तमान समय की अनेक समस्याओं का हल निकल सकता है। जैन आगमों में कर्म सिद्धान्त के व्यवहारिक पक्ष का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है परन्तु उसके क्रियात्मक पक्ष का स्पष्ट ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। विज्ञान की सहायता से इस

क्रियात्मक पक्ष को समझा भी जा सकता हैं और कर्म सिद्धान्त से प्राप्त तथ्यों को तर्क की कसौटी पर कसा भी जा सकता है। इस पुस्तक में एक ऐसा ही प्रयास किया गया और मेरे विचार से परिणाम उत्साहवर्द्धक ही रहे हैं। कर्म सिद्धान्त के अनेक पक्षों को स्पष्ट रूप से समझने में सफलता मिली है और उसके क्रियात्मक पक्ष के लिए वैज्ञानिक व्याख्या संभव हुई है। आश्चर्य की बात यह हैं कि कोई ऐसा बिन्दु नहीं मिला जहाँ विज्ञान और कर्म सिद्धान्त में विरोध हो। कर्म सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरा है। मुझे विश्वास हैं कि विज्ञान की प्रगति के साथ जैसे–जैसे नये साक्ष्य प्राप्त होते जायेंगें कर्म सिद्धान्त की प्रामाणिकता भी बढ़ती जायेगी। यही नहीं, कर्म सिद्धान्त के गूढ़ सूत्रों में यह भी सामर्थ्य है कि वह विज्ञान का मार्गदर्शन कर सके और पूर्ण सत्य को प्राप्त करने में उसकी सहायता कर सके।

कोशिका विभाजन, डी.एन.ए. की प्रकृति में परिवर्तन, जैव प्रकाश का उत्सर्जन, आदि ऐसे विषय हैं जिनका ठीक–ठीक कारण विज्ञान को ज्ञात नहीं, परन्तु जैन दर्शन में उनकी सटीक व्याख्या प्राप्त होती है। इसी प्रकार मनुष्य के भाव और व्यवहार के पिछे निहित कारणों का जहाँ मनोविज्ञान और विज्ञान स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत करने में असमर्थ है, जैन दर्शन का लेश्या सिद्धान्त इनकी सुस्पष्ट व्याख्या करता है।

एक विशेष बात जो पाई गई हैं वह यह हैं कि जैन आगमों में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्णतया वैज्ञानिक है। अध्यवसाय और लेश्या तंत्र को तरंग रूप में प्रस्तुत करना वह विधा है जो आधुनिक विज्ञान की प्रकाश को विद्युत चुंबकीय क्षेत्र के रूप में निरूपित करने की पद्धति से मेल खाती है। आधुनिक विज्ञान अपनी इस चिंतन पद्धति को नया नहीं कह सकता, यह पद्धति हमारे आचार्यो को ज्ञात थी। पुस्तक में अध्यात्म और विज्ञान का सुन्दर समन्वय बन पड़ा है और यह आशा की जाती है कि इसी मार्ग को अपना कर भविष्य में हम अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझने में सफल हो पायेंगें और विज्ञान को भी एक नया प्रकाश प्रदान कर सकेंगें।

अन्त में एक महत्वपूर्ण बात और कहनी है। प्रश्न है भविष्य का धर्म क्या होगा? संचार क्रांति के इस युग मे दुनिया सिमट रही है। संसार में भाषा, संस्कृति, सभ्यता का एकीकरण हो रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि विश्व मे एक ही भाषा, संस्कृति और सभ्यता की तरफ हम बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में संसार में धर्म भी अनेक नहीं रह पायेंगें। विश्व में एक ही धर्म होगा और वह होगा वैज्ञानिक धर्म। जिस धर्म में वैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरने की क्षमता है वही प्रामाणिक समझा जायगा और मान्य भी होगा। जैन धर्म में यह क्षमता है। परन्तु उसके वर्तमान स्वरूप को

परिमार्जित करने की आवश्यकता है जिससे कि वह विश्व धर्म के रूप में प्रतिपादित हो सके। जैन धर्म का विज्ञान के साथ जितना समन्वय होगा उतना ही वह निखरेगा और विश्व में अपने गोरवमय स्थान को प्राप्त करेगा। जो धर्म विज्ञान से बचने की कोशिश करेगा शायद वह स्वयं ही नहीं बच पायेगा।

लेखक

उदयपुर जिले में जन्में डॉ. नारायण लाल कछारा ने सन् 1961 में बिरला इंजीनियरिंग कॉलेज, पिलानी से मेकेनीकल इंजीनियरिंग में स्नातक डिग्री तथा 1969 में जोधपुर विश्वविद्यालय से मेकेनीकल इंजीनियरिंग में ही स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की।आपने 1973 में सेलफोर्ड विश्वविद्यालय ब्रिटेन से पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। जोधपुर विश्वविद्यालय में व्याख्याता, मालवीय क्षेत्रीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय में रीडर, सेलफोर्ड विश्वविद्यालय में गेस्ट फेकल्टी, हरकोर्ट बटलर प्रोद्योगिकी संस्थान कानपुर में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, अदन विश्वविद्यालय यमन में प्रोफेसर, कमला नेहरू प्रोद्योगिकी संस्थान सुलतानपुर में निदेशक, मदन मोहन मालवीय क्षेत्रीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय इलाहाबाद में प्राचार्य आदि पदों पर कार्य करते हुए 1997 में सेवानिवृत हुए। आपने देश के विभिन्न संस्थानों, बोर्ड, विश्वविद्यालयों और प्रतिष्ठानों को विशेषज्ञ और सलाहकार के रूप में अपनी सेवायें प्रदान की।

सेवा निवानिवृति के बाद सामाजिक और धार्मिक कार्यो में ही आप अपने समय का नियोजन कर रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय गायत्री परिवार के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में सेवा कार्य में, विशेष तौर पर नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में, पूर्णतया समर्पित हैं। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद आपका प्रिय विषय हैं तथा धर्म और विज्ञान के समन्वय के लिए आप सतत् प्रयत्नशील हैं। जैन धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रतिभाषित करने का आपका प्रयास रहा हैं।